णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स

भगवान् महावीर का अन्तिम उपदेश

श्री उत्तराध्ययन सूत्र

[पद्यानुवाद]

अनुवादक :

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक :

श्री शशिकान्त झा शास्त्री

प्रकाशक :

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल

ज य पु र

□ प्रकाशक :
सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल,
बापूनगर, जयपुर (राजस्थान)

□ मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना 'सरस' के लिए
शैल प्रिन्टर्स, आगरा-३

□ प्रथमावृत्ति :
वि० सं० २०३४ आषाढ पूर्णिमा
वी० नि० सं० २५०३
ई० सन् १९७७, जुलाई

□ मूल्य :
पाँच रुपया मात्र

प्रकाशकीय

महान् ज्योतिर्धर आचार्य पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी म० सा० के द्विजन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में उत्तराध्ययन सूत्र का हिन्दी पद्यानुवाद पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है।

आज से दो सौ वर्ष पूर्व संवत १८३४ में वैशाख शुक्ला पंचमी को इस ज्योति का आविर्भाव हुआ जिसने अपने ज्ञान-क्रिया सम्पन्न, तेजस्वी व्यक्तित्व और तप-त्याग मूलक धर्मदेशना से जन-जन में आत्म-चेतना की लहर पैदा कर दी। श्रीरत्नचन्द्र जी म० सा० आचार्य श्रीधर्मदासजी म० सा० की परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र थे। अठारहवी शती के आरम्भ में आचार्य श्री धर्मदासजी म० सा० ने जो क्रियोद्धार किया, उसे उन्नीसवीं शती में आपने फिर से पुनर्जीवन प्रदान किया।

आपके बाद जो आचार्य परम्परा चली, वह इस प्रकार है—पूज्य श्री हमीरमल जी महाराज, पूज्य श्री कजोड़मल जी महाराज, पूज्य श्री विनयचन्द्र जी महाराज, पूज्य श्री शोभाचन्द्र जी महाराज और वर्तमान आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज। आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज साहब उत्कृष्ट संयम साधना के साथ-साथ जीवन निर्माणकारी शास्त्रीय और ऐतिहासिक साहित्य-सर्जना में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। आत्मोत्थान और सामाजिक-धार्मिक जागृति के लिए आप ही की प्रेरणा से संवत २००२ में स्व० आचार्य श्री रत्नचन्द्र जी म० सा० की स्वर्गारोहण शताब्दी के पुनीत अवसर पर सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल की स्थापना की गयी। मण्डल तभी से स्वाध्यायी संघ, साधक संघ, जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान आदि प्रवृत्तियों के माध्यम से चरित्र निर्माणकारी कार्यों में सक्रिय रूप से जुड़ा हुआ है। विचार प्रेरक, संस्कार वर्धक सत्साहित्य के प्रकाशन की दृष्टि से मण्डल ने अब तक ५० पुस्तकें प्रकाशित की हैं और 'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का गत ३४ वर्षों से नियमित प्रकाशन हो रहा है।

भगवान महावीर का अन्तिम उपदेश 'उत्तराध्ययन' सूत्र के रूप में आज हमारे समक्ष सुरक्षित है। उत्तर का अर्थ प्रधान और पीछे का अर्थात पश्चाद्-वर्ती भी होता है। इसमें ३६ अध्ययन प्रधान एवं जीवन के अन्तिम भाग में कहे जाने से ये 'उत्तराध्ययन' के नाम से विख्यात हैं। इसमें साधक को साधना के प्रथम सोपान विनय से लेकर अन्तिम चरण संलेखना द्वारा मरण सुधारने तक की शिक्षा दी गयी है।

आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० ने परम कृपा करके सामान्य पाठकों, जिज्ञासु साधकों और स्वाध्यायियों के लिये 'उत्तराध्ययन' सूत्र का सरल हिन्दी मे यह पद्यानुवाद प्रस्तुत कर भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी को लोक भोग्य बनाने का महान् उपकार किया है। इसके सम्पादन में पं० शशि कान्त जी झा का हमे विशेष सहयोग मिला है। ग्रन्थ के प्रकाशन मे भोपाल गढ़ निवासी धर्मनिष्ठ श्रावक श्री जालमचन्दजी बाफना से हमे आर्थिक सहयोग मिला है। इन सबके प्रति हम सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल की ओर से हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

आशा है, यह ग्रन्थ साधना पथ पर बढ़ने वाले पथिकों—साधकों के लिए पाथेय और प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगा।

सोहननाथ मोदी
अध्यक्ष

चन्द्रराज सिंघवी
मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

प्राक्कथन

□ आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब

●

जैन आगमों मे 'उत्तराध्ययन' सूत्र का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमे साधना पथ पर सद्यः अग्रसर हुए साधक से लेकर उच्चतम श्रेणी पर आरोहणरत साधक के लिए भी साधना की सभी आवश्यक सामग्री उत्तरोत्तर आवश्यक मार्ग दर्शन के लिए सन्निहित है। इसे, यदि केवल स्वर्ग अपितु, अपवर्ग अर्थात् शास्वत सिद्धपद पर पहुँचाने वाली निसैनी (सीढी) भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इसमें भगवान महावीर के विश्व कल्याणकारी अन्तिम उपदेश हैं, जो उन्होंने निर्वाणारोहण की रात्रि में कृपापूर्वक प्रदान किये। निर्वाण की ओर प्रयाण करते समय दिये गये उपदेशों से गुम्फित होने के कारण भी उत्तराध्ययन सूत्र को निर्वाण के सोपान की संज्ञा दी जा सकती है।

उत्तराध्ययन सूत्र पर संस्कृत, प्राकृत भाषाबद्ध विविध रचनाएं प्रकट हो चुकी है। गुजराती और राजस्थानी के पद्यानुवाद भी मिल सकते हैं, पर हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद का यह पहला ही संस्करण होगा। पूर्वाचार्यों की भी सर्वसाधारण पाठकों के सुबोधार्थ सूत्र पाठों की विशेषतः दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र की गीतिका देशी भाषा में उपलब्ध है। किन्तु आज राष्ट्र भाषा हिन्दी का देशव्यापी प्रचार होने से शुद्ध हिन्दी में "स्वान्तः सुखाय" किया गया यह पद्यानुवाद "लोकहिताय" अधिक उपयोगी होगा, इस विचार से लोकप्रिय राधेश्याम तर्ज पर पद्य प्रस्तुत किये गए हैं। यों ब्रह्मऋषि की "उत्तराध्ययन गीतिका" उपलब्ध है, पर उसमें अविकल अनुवाद नहीं है।

प्रस्तुत रचना में सूत्र की मूल गाथाओ का अविकलभाव लेने का ध्यान रक्खा गया है । मूल गाथा का कोई शब्द एवं उसका भाव न छूटे इसके लिए शक्य सतर्कता रखने पर भी प्रमादवश सम्भवतः कहीं कोई शब्द छूटा हो तो "समादधतु सज्जनाः" इस वचनानुसार विद्वद्जन उसका समाधान करेंगे ।

ब्रह्मचर्य अध्ययन मे गद्य का पद्यानुवाद करने में छन्द बदला गया है। अन्य अध्ययनों मे प्राय. एक ही प्रकार के उपरोक्त तर्ज हैं।

सम्पादन कार्य मे प० शशिकान्त जी ने अनुवाद में लालित्य और रोचकता लाने का जो निष्ठापूर्वक श्रम किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। जैन समाज के हर घर मे हर स्वर में भ० महावीर का यह प्रस्तुत उपदेश "रामायण" की तरह प्रतिदिन पठन-पाठन में स्थान प्राप्त करे और प्रत्येक भारतवासी महावीर के उपदेशो का सरलता से ज्ञान प्राप्त कर सके, यही भावना इस पद्यानुवाद के मूल मे सन्निहित है।

□

प्रकाशन में उदार अर्थसहयोगी

[समाजसेवी सेठ श्री जालमचन्दजी बाफणा : एक परिचय]

'धन कमाना' कोई बहुत बड़ी बात नही है, किन्तु अर्जित धन का सरक्षण करना कठिन है, और उससे भी कठिन है—धन का सदुपयोग करना।

सँसार के लाखों धनपतियो मे से धन का सदुपयोग करने वाले बहुत कम मिलेगे। उन विरले मनुष्यो की गणना में एक नाम है—भोपालगढ़ (राज०) निवासी दानवीर सेठ श्रीजालमचन्दजी बाफना एवं उनके सुपुत्रों का। समाज सेवा एव ज्ञान प्रचार आदि कार्यों में आपके परिवार की ओर से समय-समय पर उदारतापूर्वक धन का सदुपयोग किया जाता रहा है।

श्रीमान जालमचन्दजी साहब की धर्मपत्नी थी स्व० श्रीमती पतासीबाई बाफना। आप बड़ी सरल परिणामी, धर्मशीला एवं उदार श्राविका थी। आप अधिकतर भोपालगढ़ में ही रहती थी और साधु-सतियों की सेवा तथा धर्म-ध्यान में अपना समय बिताती थी। कुछ ही समय पूर्व पुत्रों के अधिक आग्रहवश आप आगरा व कानपुर आई। जहाँ आपका पुत्र श्रीरिखबराजजी (आगरा) एवं मनमोहनचन्दजी (कानपुर) में दाल मिल चलाते हैं। आप कानपुर गईं। वहाँ १० दिन की सामान्य बीमारी के बाद अचानक ही आपका स्वर्गवास हो गया।

श्रीमान रिखबराजजी एव मनमोहनचन्द्रजी ने अपनी मातुश्री की संस्मृति में उत्तराध्ययन सूत्र के प्रकाशन में अर्थ सहयोग प्रदानकर अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।

श्रीमती मानीबाई (माडीबाई) जंवरीलालजी कांकरिया

धर्मशीला उदार श्राविका श्रीमती मानीबाई (माडीबाई) सेठ श्रीजालमचन्द्रजी बाफना की सुपुत्री तथा स्व० सेठ श्री जवरीलालजी कांकरिया (भोपालगढ़) की धर्मपत्नी है।

श्रीमती मानीबाई अपने माता-पिता तथा परिवार के उच्च संस्कारों के अनुरूप ही बड़ी सरलमना, सात्विक विचारों वाली धर्मपरायण महिला है। आपके पुत्र श्रीसज्जनराजजी जब तीन वर्ष के थे, तभी आपको पति-वियोग सहना पड़ा। किन्तु हिम्मत और सूझबूझ के साथ आपने अपनी सन्तान को धार्मिक संस्कारों से सम्पन्न बनाया और व्यवसाय के क्षेत्र में लगाया।

श्रीसज्जनराजजी काकरिया अपने पूज्य नानाजी एवं मामाजी के निर्देशन में व्यापार कुशल बने और आज आगरा में कुशलतापूर्वक अपना व्यवसाय चला रहे है।

श्रीमती मानीबाई तीन वर्षीतप कर चुकी है और सतत व्रत-उपवास आदि धार्मिक क्रियाओ मे जीवन को सार्थक बना रही है।

अपने पूज्य पिता श्री की स्मृति में तथा माता श्री की भावना के अनुरूप इस पुस्तक प्रकाशन मे सहयोग देकर श्री सज्जनराजजी ने भगवद्वाणी के प्रचार में अनुकरणीय कार्य किया है।

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल की ओर से हम उक्त महानुभावो का हार्दिक अभिवादन करते है।

मन्त्री

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सम्पादकीय

उत्तराध्ययन सूत्र करुणासिन्धु, विश्वबन्धु भगवान् महावीर के अन्तिम उपदेशों का अनमोल संग्रह है। इसका प्रत्येक अध्ययन जीवन को जागृत और सार्थक बनाने की क्षमता वाला है। इन उपदेशात्मक अध्ययनों के अनुकूल चलने पर प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अग्नि में तपे स्वर्ण की तरह अपूर्व तेज और आभा मण्डित बन कर स्व-पर का कल्याण कारक बन सकता है। इसके कतिपय अध्ययन तो ऐसे मर्मस्पर्शी भाव वाले हैं कि जिनके पठन-मनन और आचरण से निश्चय ही अलौकिक आनन्द की प्राप्ति सम्भव है।

आरम्भ के विनयश्रुत अध्ययन मे विनीत एवं अविनीत शिष्य का जो चरित्र-चित्रण किया गया है, दूसरे परीषह अध्ययन में जीवन को दुःखी और चंचल बनाने वाले जिन परीषहों को दिखाया गया है, वे निश्चय आँख खोलने वाले हैं। नमि प्रव्रज्या अध्ययन तो मोह तोड़ने मे बेजोड़ माना जायेगा। ऐसे ही द्रुमपत्रक अध्ययन तो निश्चय अनुपम है। इसमें अपने परम प्रिय शिष्य गौतम गणधर को काल के सूक्ष्म भाग "समय" तक को भी व्यर्थ नही गँवाने के लिए प्रभु महावीर ने देवोपम दिव्य देह को जराग्रस्त होने पर कर्ण, चक्षु, दंत तथा केश और त्वचा आदि के विकृतियों का जो चित्रण एवं तरु के गिरते पाण्डुपत्रो का उद्धरण देकर जीवन और यौवन की क्षणभंगुरता का जो रूप दिखाया है, निश्चय ही दार्शनिक दृष्टि से यह अध्ययन अपनी गरिमा और मार्मिकता मे बेजोड़ है।

ऐसे अन्य सभी अध्ययन अपने-अपने अंश में निराले और जीवन को संयम पथ पर ले चलने से सक्षम एवं समर्थ है।

यही कारण है कि 'उत्तराध्ययन" सूत्र का न सिर्फ जैन बल्कि जैनेतर जगत में भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व और स्थान है। इसकी लोकप्रियता और प्रख्याति इतनी बढ़ी है कि प्रायः अधिकांश विद्वानों ने इस सूत्र पर अपनी लेखनी चलाने के लोभ का संवरण नहीं किया है।

इस तरह इसकी टीकाएँ तो बहुत हुई किन्तु शुद्ध हिन्दी में गायन प्रधान अभी तक कोई ऐसा अनुवाद नहीं निकला जो इस प्राकृत पद्य का अविकल

रूपान्तर माना जाता। इस कमी को ध्यान में रखकर जैन जगत एवं श्रमण परम्परा के प्रख्यात सन्त और विद्वन्मूर्धन्य आचार्य श्री हस्तीमल जी म० ने सवाई माधोपुर चातुर्मास में धर्मप्रेमी जन विशेषकर स्वाध्यायी बन्धुओं के लिए हिन्दी में पद्यानुवाद कर सम्पादन का दायित्व मुझ पर दिया।

आचार्य श्री के इस अभिनव कृतित्व का सम्पादन-दायित्व मैंने स्वीकार तो कर लिया पर कह नहीं सकता कि उसका सम्यक् निर्वाह मुझ से कहाँ तक हो सका है ? इस जीवन प्रेरक कृति के आन्तरिक मर्म को सम्यक् सम्पादन कर पाठकों के समक्ष रखने का भार सम्पादक का है, मगर अपनी सीमित क्षमता के कारण मुझसे वैसा नहीं हुआ होगा, अतः अपनी ओर से हुई त्रुटि के लिए पाठकों से क्षमा मांगने के सिवा मेरे पास दूसरा कोई मार्ग नहीं है, और मुझे विश्वास भी है कि पाठक क्षमादान के द्वारा मुझ पर अनुग्रह करने में कभी पीछे नहीं रहेंगे।

इसी आशा और विश्वास के संग !

विनयावनत

शशिकान्त झा 'शास्त्री'

●●●

श्री उत्तराध्ययन सूत्र

[पद्यानुवाद]

॥ ॐ ॥

१. विनयश्रुत

द्रव्य - भाव संयोग - मुक्त, भिक्षाजीवी अनगारी का ।
विनयधर्म का कथन करूँगा, श्रवण करो व्रतधारी का ॥१॥

गुरु आज्ञा-निर्देश करे, गुरुवर पद की सेवा करता ।
इंगित चेष्टा का विज्ञ श्रमण, सुविनीत शिष्य वह कहलाता ॥२॥

जो गुरु आज्ञा से विमुख रहे, गुरुदेव चरण में जा रहता ।
वह प्रत्यनीक संबोध - रहित, अविनीत शिष्य है कहलाता ॥३॥

सड़े कानवाली कुतिया, की जाती दूर यथा सबसे ।
दुःशील और वामाचारी, वाचाल-भिक्षु, गण से वैसे ॥४॥

सुअर धान्य-भूस को तजकर, विष्ठा में ललचाता है ।
शील छोड़ अज्ञानी वैसे, उत्पथ में रम जाता है ॥५॥

कुत्ती सूअर नर की दुर्गति, सुन विज्ञ विचारो निज मन में ।
अपने हित की इच्छा तो, धरो विनय इस जीवन में ॥६॥

हो शील - लाभ इसलिए सदा, आचार विनय कर से पालन ।
जो है मोक्षार्थी बुद्धपुत्र, उसका न कहीं से निष्कासन ॥७॥

सदा शान्त हो गुरुचरणों में, मितभाषी होकर रहना ।
अर्थयुक्त वचनों को सीखे, व्यर्थ बात मत मन धरना ॥८॥

पाकर गुरुजन का अनुशासन, ना विज्ञ शिष्य मन क्रोध करे।
तज क्षुद्र संग और हास्य खेल, धारण कर शान्ति सदा विचरे ॥९॥

व्यवहार दुष्ट ना करे कभी, न व्यर्थ किसी से बात करे।
नियत समय पर पाठ ग्रहण कर, बैठ अकेला ध्यान धरे ॥१०॥

कर चाण्डालोचित कर्म भिक्षु, सहसा न छिपाये उसे कहीं।
यदि बुरा किया तो कहे बुरा, और नहीं किया तो कहे नहीं ॥११॥

गलित अश्व सम गुरु वचनों के, चाबुक की ना चाह करे।
आकीर्ण अश्ववत् वचन-कशा को, देख पाप का त्याग करे ॥१२॥

इच्छानुकूल व्यवहारी हो, और कार्यकुशलता से करते।
रोष - भाव वाले गुरु को भी, मुनि विनयशील प्रमुदित करते ॥१३॥

बोले न बिना पूछे कुछ भी, पूछे भी झूठ नहीं बोले।
आने पर क्रोध विफल कर दे, प्रिय अप्रिय सब धारण कर ले ॥१४॥

आत्मा को वश में है करना, कारण आत्मा ही दुर्दम है।
इस भव परभव में सुख पाता, जो दान्त आत्मा सक्षम है ॥१५॥

अपने द्वारा तप संयम से, दमन स्वयं का है अच्छा।
वध - बन्धन द्वारा पर - जन से, है दमन नहीं लगता अच्छा ॥१६॥

गुरुजन के प्रतिकूल आचरण, तन वाणी से करे नहीं।
जन समक्ष या रहोभूमि में, ऐसा मन में धरे नहीं ॥१७॥

गुरुजन के आगे या पीछे, या समस्थान नहीं बैठे।
शय्या से उत्तर दे न कभी, और जांघ सटाकर ना बैठे ॥१८॥

बैठे नहीं बाँध कर पलथी, पक्ष पिण्ड से भी ना कहीं।
गुरुजन के सम्मुख अविनय से, जो पैर प्रसारण करे नहीं ॥१९॥

आचार्य बुलावे को सुनकर, हो मौन कभी, ना शिष्य रहे।
गुरु - प्रसाद इच्छुक मोक्षार्थी, सदा गुरू के पास रहे ॥२०॥

जो एक बार या पुन: पुन, बैठा न रहे गुरु-आज्ञा सुन।
गुरु वचन विनय से ग्रहण करे, तज धीर शीघ्र अपना आसन ॥२१॥

आसन या शय्या पर बैठा, गुरुजन से कुछ पूछे न कभी।
उकडू आसन से आ समीप, पूछे प्रांजलियुत प्रश्न सभी ॥२२॥

सुविनीति शिष्य को गुरु जन भी, प्रश्नों के उत्तर खोल कहे।
सूत्र अर्थ जैसा जाना है, वैसा ही सद्ज्ञान कहे ॥२३॥

भिक्षु असत्य नही बोले, और निश्चय भाषा कहे नहीं।
भाषा के दोषों को छोड़े, माया को मन में धरे नहीं ॥२४॥

सावद्य व्यर्थ और मर्मन्तुद, पूछे जाने पर भी मुनि जन।
अपने या पर दोनो के हित, बोले न भूल कर कभी वचन ।२५॥

शालागृह या सन्धि - स्थान, या राजमार्ग एकान्त परे।
भिक्षु अकेली रमणी के संग, खड़ा रहे ना बात करे ॥२६॥

शीतल या कुछ रूक्ष वचन से, गुरुवर जो शिक्षा देते।
वह मेरे ही लाभ हेतु, यों देख उसे धारण करते ॥२७॥

यह उपालम्भयुत अनुशासन, दुष्कृत्य निवारक होता है।
प्राज्ञ उसे हितकर माने, अप्राज्ञ द्वेष मन लाता है ॥२८॥

भय - रहित विज्ञ रूखी शिक्षा, भी हितकारी मन लाता है।
होता वही क्षान्ति मन:शोधक, मूर्ख द्वेष सजाता है ॥२९॥

गुरु आसन से निम्न और, निष्कंप स्थिरासन पर बैठे।
ना करे चपलता कर पद से, ना बहुत उठे स्थिर हो बैठे ॥३०॥

नियत समय भिक्षा को निकले, तथा समय पर आ जाए।
वर्जन कर विपरीत काल, सब कार्य समय पर कर पाए ॥३१॥

गृहिदत्त आहार - गवेषी हो, ना भिक्षु पंक्ति में खड़ा रहे।
साधुवेष से भिक्षा पाकर, यथा समय नित भोग लहे ॥३२॥

भिक्षाचर हो तब एकाकी, खड़ा दृष्टि में रहे नहीं।
दूर और अति निकट न ठहरे, गमन लांघ मुनि करे नहीं ॥३३॥

ऊँचे नीचे अति दूर निकट, स्थित दाता से ना ग्रहण करे।
पर - हित निर्मित प्रासुक-भोजन, संयत मुनि विधि से ग्रहण करे ॥३४॥

प्राण और बीजादि रहित, संच्छन्न स्थान जो संवृत हो।
समभाव सहित ना छिटकाते, आहार करे मुनि संयत हो ॥३५॥

अच्छा किया पकाया वा, छेदन या हरण किया अच्छा।
है इष्ट सुघड़ सुन्दर ऐसा, ना वचन सदोष कहे अच्छा ॥३६॥

बुद्धिमान, शिष्यों को गुरुजन, शिक्षण देकर हर्षाते।
भद्र अश्व के चालक सम वे, मोद बहुत मन में पाते ॥
विनय - रहित का शासन करके, गुरुजन क्लेश उठाते हैं।
गलितअश्व के चालक जैसे, मार मार थक जाते हैं ॥३७॥

पापदृष्टि गुरु शुभ अनुशासन, को ठोकर चाँटा जाने।
हितकारी उनकी शिक्षा को, गाली तथा मार माने ॥३८॥

नम्र शिष्य सुत भ्रातृ स्वजनवत्, गुरु अनुशासन शुभ माने।
किन्तु कुशिष्य सुशासित हो, वो निज को दास तुल्य जाने ॥३९॥

शिष्य न कुपित करे गुरुजन, को और न स्वयं कुपित होवे।
बने न उपघाती गुरुजन का, छिद्रान्वेषी ना हो जावे ॥४०॥

आचार्यदेव को रुष्ट जान, मृदु प्रिय वचनों से तुष्ट करे।
ऐसी होगी फिर भूल नहीं, अंजलि जोड़े उपशान्त करे ॥४१॥

धर्मार्जित व्यवहार सदा, आचार्यों ने आचरण किया।
गर्हा को प्राप्त नहीं होता, जिसने वैसा आचार किया ॥४२॥

भाव मनोगत और वाक्यगत, गुरुवाणी का ग्रहण करे।
भाव समझ कर कार्यरूप दे, आज्ञा को स्वीकार करे ॥४३॥

विनय - भाव से ख्यात शिष्य, जो बिना प्रेरणा कार्य करे।
यथादेश सत्कार्य करे, निज कृत्यों में ना ढील धरे ॥४४॥

प्राज्ञ जानकर विनय करे, उसकी जग महिमा होती है।
विनयी भी धर्माश्रय वैसे, ज्यों शरण जीव भू होती है ॥४५॥

पूज्य प्रसन्न होते उस पर, वे पूर्व विनय परिचित होते।
और विपुल मोक्ष मूलक उसको, श्रुत ज्ञान लाभ हो खुश देते ॥४६॥

शास्त्र - पूज्य संशय - विहीन, गुरु भक्त कर्म सम्पदयुत् हो।
व्रत पाल दिव्य पद है पाता, तप और समाधि - संयुत हो ॥४७॥

सुर नर गन्धर्वों से पूजित, मल पंक रचित यह तन तज कर।
शाश्वत सिद्धत्व मिलाता या, लघु कर्म महर्द्धिक देव प्रवर ॥४८॥

□□

२. परीषह

आयुष्मन् ! उन वीर प्रभु ने, बाईस परीषह बतलाये।
सुन जान जिन्हें भिक्षुक भिक्षा में, पाकर कभी न घबराये ॥१॥

कहो कौन बाईस परीषह, वीर प्रभु ने बतलाये।
जो सुन जान विजित परिचित, कर भिक्षु कभी न घबराये ॥२॥

ये हैं वे बाईस परीषह, प्रभु ने जो बतलाये हैं।
जो सुन जान विजित परिचित, कर भिक्षु नहीं घबराये हैं ॥३॥

प्रथम क्षुधा और तृष्णा दूसरा, जो कि कण्ठ-शोषण करता।
शीत उष्ण और दंश-मशक का, पीड़न मन विचलित करता॥
अचेल अरति स्त्रीचर्या, शय्या निषीधिका का परिषह।
आक्रोश याचना वध अलाभ, और स्पर्श तृणों का है दुस्सह॥
है जल्ल परीषह अष्टादश, सत्कार पुरस्कृति सुखकर है।
प्रज्ञा प्रखर अहं लाती, दर्शन अज्ञान भी दुखकर है ॥४॥

परीषहों के इस विभाग को, काश्यप ने है बतलाया।
क्रमवार उसे मैं कहता हूँ, सुन प्रभु ने जैसा फरमाया ॥५॥

क्षुधा व्याप्त होने पर तन में, तपसी मुनि साहस दिखलावे।
फल फूलादिक छेदन पाचन, स्वयं करे ना करवावे ॥६॥

काक-जंघ - सम क्षुधा-क्षीण-तन, नस-ढांचा भर रह जाए।
अशन-पान मात्रज्ञ साधु, भिक्षा अदीन मन से लाए ॥७॥

पापभीरु संयम तत्पर, अत्यन्त प्यास-पीड़ित होकर।
शीतोदक सेवन करे नहीं, लाए प्रासुक जल शोधन कर ॥८॥

निर्जन पथ में यात्रा करते, अतिशय प्यासाकुल होकर के।
सूखा मुँह साधु दीनभाव तज, चले प्यास को सहकर के ॥९॥

रुक्षवृत्ति आरंभ - रहित, मुनि कभी शीत से पीड़ित हो।
मर्यादा - लंघन करे नहीं, जिनशासन सुनकर स्थिर मन हो ॥१०॥

शीत - निवारण स्थान नहीं, छवि रक्षक भी कुछ वस्त्र नहीं।
पावक से सर्दी दूर करूँ, ऐसा मुनि चिन्तन करे नहीं ॥११॥

तप्तभूमि के तापों से, या ग्रीष्म सूर्य के दाहों से।
पीड़ित हो सुख के हेतु संत, आकुल न करे मन आहों से ॥१२॥

उष्ण ताप से तप्त प्राज्ञ मुनि, स्नानेच्छा ना मन लावे।
करे न गीला तन जल से, पंखे बीजन न हवा खावे ॥१३॥

दंश - मशक के डसने पर, समरस हो मुनि दुःख सहन करे।
संग्रामशीर्ष पर शूर नाग, सम राग रोष का विजय करे। १४॥

त्रस्त न हो, ना दूर हटावे, मन में भी ना द्वेष करे।
रक्त मांस खाते ना मारे, सतत उपेक्षाभाव धरे ॥१५॥

फटे जीर्ण वस्त्रों के कारण, वस्त्र - रहित हो जाऊँगा।
मन में न भाव ऐसा लायें, अब नए वस्त्र को पाऊँगा ॥१६॥

कभी अचेलक होता है, स्थिति वश सचेल भी हो जाता।
दोनों को धर्मार्थ जान, ज्ञानी अदीन-मन बन जाता ॥१७॥

ग्रामानुग्राम विचरण करते, अनगार अकिंचन व्रतधारी।
यदि अरतिभाव मन आ जाए, तो सहन करे समताधारी ॥१८॥

हिंसादि विरत आत्मा - रक्षित, जो अरति भाव को दूर करे।
धर्म मार्ग आरंभ - रहित, उपशान्त भाव हो मुनि विचरे ॥१९॥

हैं नर के लिए बंध कारण, ये स्त्रियां लोक में बहुत सबल।
लेता है जान बात जो यह, उसकी जग में साधुता सफल ॥२०॥

है पंकभूत नारी मुनि हित, यह बात सदा ही ध्यान धरे।
ना संयम - घात करे उनसे, निज आत्म-गवेषी हो विचरे ॥२१॥

हो एकाकी सम्यग् विचरे, मुनि जीत परीषह को जग में।
गाँव नगर या रजधानी में, शुद्धाहारी जनपद में ॥२२॥

नहीं गृही सम विचरे मुनिवर, ममता का न भाव धरे।
रहे गृही जन से अलिप्त, और अनिकेतन होकर विचरे ॥२३॥

तरु - मूल शून्य घर या मशान, रागादि रहित हो ध्यान धरे।
चांचल्य - रहित होकर बैठे, ना अन्य किसी को त्रस्त करे ॥२४॥

उन स्थानों पर बैठे मुनि को, उपसर्ग कदाचित आ जावे।
शंका से भयभीत चित्त, अन्यत्र न उठ करके जावे ॥२५॥

अच्छी बुरी वसति पाकर, तपसी मुनि मन में धैर्य धरे।
मर्यादा-लंघन करे नहीं, वह पाप दृष्टि अतिक्रमण करे ॥२६॥

पशु-पण्डक-वनिता रहित स्थान, अच्छा अथवा प्रतिकूल मिले।
एक रात में क्या होता ?, यों शान्त भाव से दुख सह ले ॥२७॥

आक्रोश करे कोई मुनि को, उन पर मन में ना रोष धरे।
क्रोधी होता है बाल - सदृश, इसलिए भिक्षु ना क्रोध करे ॥२८॥

दारुण कठोर अप्रियभाषा, सुन कर न संयमी क्रोध करे।
मौनभाव धर करे उपेक्षा, उनका मन में ना ध्यान धरे ॥२९॥

पीटा जाकर ना क्रोध करे, मन को भी दूषित करे नहीं।
क्षमाभाव को श्रेष्ठ जान, मुनि धर्म भाव मन धरे सही ॥३०॥

श्रमण जितेन्द्रिय मुनिवर पर, यदि कोई कहीं प्रहार करे।
है नाश जीव का कभी नहीं, मुनि ऐसा चिन्तन किया करे ॥३१॥

दुष्कर है अनगार भिक्षु का, नित्य याचना कर खाना।
अशनादिक सब याचित मिलते, याञ्चा बिना न कुछ पाना ॥३२॥

गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि को, कर पसारना सरल नहीं।
श्रेष्ठ अतः घर का निवास है, मुनि चिन्तन यों करे नहीं ॥३३॥

गृहपति घर भोजन बनने पर, अन्नादि एषणा श्रमण करे।
चाहे पिण्ड मिले या ना भी, मुनि मन ना अनुताप धरे ॥३४॥

आज नहीं मैं पाया हूँ, संभव है कल मिल जायेगा।
जो इस प्रकार चिन्तन करता, उसको अलाभ ना दुःख देगा ॥३५॥

उत्पन्न रोग के होने पर, तन पीड़ा से मन दुःख धरे।
दीनभाव तज स्थिरमति हो, मुनि कष्ट हृदय से सहा करे ॥३६॥

सावद्य चिकित्सा ना चाहे, ना करे करावे दुःख सहे।
निश्चय उसका श्रामण्य यहीं, आत्मान्वेषी स-समाधि रहे ॥३७॥

जो रूक्ष शरीर अचेलक है, उस संयत घोर तपस्वी को।
तृण पर सोते से होती है, तन पीड़ा संत यशस्वी को ॥३८॥

ग्रीष्मकाल आतप गिरने से, अतुल वेदना पाते हैं।
यह जान तृणों से पीड़ित मुनि, पट का उपयोग न लाते हैं ॥३९॥

पंक धूल या ग्रीष्म ताप से, मैल बदन पर जमा करे।
परिताप-खिन्न मेधावी मुनि, साताहित नहीं विलाप करे ॥४०॥

कर्म निर्जरा कष्ट सहे मुनि, श्रेष्ठ धर्म निर्दोष यही।
तन वियोग तक हर्षित मन हो, मैल बदन पर धरे सही ॥४१॥

सत्कार निमन्त्रण अभिवादन, जो राज्य स्वामिकृत प्राप्त करे।
उनकी वांछा करे न मन में, ना धन्य शब्द मुख से उचरे ॥४२॥

मन्दकषायी अल्पचाह, अज्ञात एषणा करता है।
रस - गृद्ध न बनता हो लोलुप, और प्राज्ञ खेद ना धरता है ॥४३॥

निश्चय ही मैंने कर्म किये, हैं ज्ञान-निरोधक दुःखकारी।
पूछा जाने पर कहीं किसी से, मैं जान न पाता हितकारी ॥४४॥

अज्ञान-फलप्रद कर्म किये, जो उदय समय पर आते हैं।
यों कर्म विपाक समझ मुनिवर, मनको आश्वस्त बनाते हैं ॥४५॥

मैं व्यर्थ हुआ मैथुन-निवृत्त, इन्द्रिय मन गोपन व्यर्थ किया।
है धर्म शुभद या पाप मूल, प्रत्यक्ष न इसका ज्ञान लिया ॥४६॥

तप उपधान ग्रहण करके, प्रतिमा का पालन करता हूँ।
इस चर्या से विहरण कर भी, ना छद्म दूर कर पाता हूँ ॥४७॥

निश्चय ही परलोक नहीं, तपसी जन की भी ऋद्धि कहीं।
अथवा मैं ठगा गया जग में, यों मुनि शंका मन करे नहीं ॥४८॥

हुए कई जिन वर्तमान हैं, और कई आगे होंगे।
कहने वाले मिथ्या कहते, यों कभी नहीं मुनि सोचेंगे ॥४९॥

ये सभी परीषह काश्यप ने, दुःख सहने को हैं बतलाये।
जिन में से कोई कहीं लगे, भिक्षुक न कभी भी घबराये ॥५०॥

□□

३. चतुरंगीय

परम अंग जग में ये दुर्लभ, चार मोक्ष के साधन हैं।
मनुज जन्म एवं श्रुति श्रद्धा, संयम में वीर्य प्रकाशन हैं ॥१॥

करके नानाविध कर्म जीव, संसार बीच आ जाता है।
नाना प्रकार के गोत्र जाति में, विविध रूप धर छाता है ॥२॥

कभी स्वर्ग के देवों में, और कभी नरक में जाते हैं।
ये प्राणी निज - कृत कर्मों से, आसुर भव को भी पाते हैं ॥३॥

एक समय क्षत्रिय होता, वोक्कस चण्डाल भी होता है।
वह कीट पतंगा और कुन्थु, चींटी के भव में आता है ॥४॥

यों कर्म-पाप से दबे जीव, आवर्त योनियों में करते।
सब काम भोग पा क्षत्रिय सम, भव से निर्वेद नहीं धरते ॥५॥

जो कर्म संग से मूढ़ जीव, दुःखित अति पीड़ा पाते हैं।
धर्म-हीन तीनों गतियों में, फिर-फिर वे गोते खाते हैं ॥६॥

प्रतिबन्धक कर्मों के क्षय से, अनुक्रम से ऊपर आता है।
उससे विशुद्धि पाकर प्राणी, फिर मानव तन ले पाता है ॥७॥

मानव शरीर को पाकर भी, सद् धर्म श्रवण दुर्लभ जन में।
जिसको सुनकर जन ग्रहण करे, तप क्षमा अहिंसा जीवन में ॥८॥

मिला भाग्य से धर्म - श्रवण, श्रद्धा दुर्लभ ना पाते हैं।
सुनकर भी सच्चा मोक्ष मार्ग, पथभ्रष्ट कई हो जाते हैं ॥९॥

श्रुति एवं श्रद्धा पाकर भी, दुर्लभ पौरुष है शिव पथ में।
रुचि करके संयम श्रेणी पर, चलते न कभी वे इस पथ में ॥१०॥

मानव तन पा जो धर्म - श्रवण, करता उसमें श्रद्धा रखता।
वह तप में वीर्य लगा संवृत हो, कर्म धूलि को है धुनता ॥११॥

है शुद्धि सरल मनकी होती, शुचि मन में धर्म निवास करे।
निर्वाण परम वह पाता है, घृतसिक्त अग्नि सम ज्योति धरे ॥१२॥

कर दूर बंध के कारण को, क्षान्त्या संयम का संचय कर।
वे उच्च दिशा को जाते हैं, अपना यह पार्थिव तन तज कर ॥१३॥

विविध शील व्रत का पालन कर, देव उत्तमोत्तम बनते।
महा शुक्ल सम दीप्तिमान हो, नहीं च्यवन को मन धरते ॥१४॥

दैवी भोगों में अर्पित हो, इच्छारूपी वे रहते हैं।
पूर्व वर्ष शत दीर्घकाल तक, ऊर्ध्वकल्प में वसते हैं ॥१५॥

उन कल्पों में यथायोग्य रह, देव समय पर च्युत होते।
मनुज योनि में आकर के, दश अंग पुण्य से वे पाते ॥१६॥

क्षेत्र वास्तु हिरण्य स्वर्ण, पशुदास अंगरक्षक होते।
ये चार जहाँ हों काम स्कन्ध, उस कुल में वे पैदा होते ॥१७॥

अच्छे, मित्र ज्ञाति उत्तम हो, गोत्र - वर्ण भी शुभ पाते।
रोग - रहित प्रज्ञा - बलधारी, ख्यात कुलीन सबल होते ॥१८॥

मानव के अनुपम भोगों का, जीवन भर अनुभव करते।
पूर्व - विशुद्ध धर्म कारण से, निर्मल बुद्धि प्राप्त करते ॥१९॥

दुर्लभ चारों अंग जानकर, संयम गुण में चित्त धरे।
तप से कर्म मैल धोकर के, शाश्वत शिव पद प्राप्त करे ॥२०॥

□□

४. असंस्कृत

छोड़ प्रमाद, जुड़े ना जीवन, जरसोपनीत का त्राण नहीं।
यों जान प्रमादी हिंस्र-असंयत, लेंगे किसकी शरण कहीं ? ॥१॥

पाप - प्रवृत्ति से यदि कोई, मानव वैभव को पाता है।
धन छोड़ वैर से बंधा देख लो, नरक लोक वह जाता है ॥२॥

ज्यों चोर सेंधमुख पर पकड़ा, निज कर्म विवश काटा जाता।
ऐसे यह जीव उभय भव में, बिन भोगे कर्म न छुट पाता ॥३॥

पर के कारण जो संसारी, साधारण कर्म कमाता है।
कर्म भोग के समय नहीं, बान्धव जन भाग बंटाता है ॥४॥

धन से विषयी को त्राण नहीं, इस भव में अथवा पर-भव में।
बुझ गये दीपवत् अति मोही, देखे पथ भी न चले वन में ॥५॥

सुप्त जनों में भी ज्ञानी, प्रतिबुद्ध भरोसा करे नहीं।
निर्बल शरीर क्षण बड़ा निठुर, भारण्ड सम करे प्रमाद नहीं ॥६॥

मुनि चले दोष से शंकित हो, थोड़ा भी दोष बन्धन समझे।
हो लाभ जहाँ तक तन पोषण, बिन लाभ देह का मोह तजे ॥७॥

इच्छानिरोध से मुक्ति मिले, ज्यों शिक्षित हय वर्मनधारी।
पूर्व वर्ष चल अप्रमत्त हो, शीघ्र मुक्ति के व्रतधारी ॥८॥

जो पूर्व नहीं मिलता पीछे भी, निश्चय यह शाश्वत वाद कहे ।
पर शिथिल आयु में काल जनित, तनभेद देख मन खेद लहे ॥९॥

शीघ्र विवेक न पा सकता, उठ अतः काम सुख त्याग करो ।
यह लोक जान समभाव रमो, आत्मार्थी जागृत हो विचरो ॥१०॥

बार बार मोहादि जीतते, उग्र विहारी मुनि जन को ।
विविध विषम परिषह दुःख देते, मन से न संत सोचे उनको ॥११॥

अनुकूल स्पर्श मन ललचाते, वैसे में मन ना प्रीति धरे ।
कर क्रोध दूर और मान हटा, माया सेवे ना लोभ करे ॥१२॥

परवादी संधेय-आयु को, राग द्वेषवश हो कहते ।
धर्म शून्य उनका मन तज, गुण अर्जन अन्तिम दम करते ॥१३॥

□□

५. अकाम-मरणीय

दुस्तर महाप्रवाही भवनिधि, ज्ञानी जन ने पार किया।
उनमें एक पूर्णज्ञानी ने, स्पष्ट रूप में बोध दिया ॥१॥

दो मरणान्तिक स्थान शास्त्र में, वीर प्रभु ने बतलाये।
एक अकाम, सकाम दूसरा, मरण भेद हैं दिखलाये ॥२॥

होता मरण अकाम बाल-जीवों का बारम्बार जहाँ।
प्राज्ञव्रती का एकबार, होता सकाम है मरण यहाँ।३॥

प्रभु ने पहले बाल मरण को, उन दोनों में बतलाया।
जैसे कामासक्त बालजन, क्रूर कर्म है अपनाया ॥४॥

आसक्त काम भोगों में जो, वह कूट लोक को जाता है।
परलोक न देखा है हमने, रति भोग दृष्टि में आता है ॥५॥

हैं कामभोग कर में आये, संशय में कल के भोग यहाँ।
है किसे पता परलोक रम्य, उत्तर इसका है स्पष्ट कहाँ ॥६॥

रहना जनता के संग सोच, यों बाल ढिठाई करता है।
काम भोग में राग-विवश, हो क्लेश-पाश में पड़ता है ॥७॥

त्रस या स्थावर जीवों पर, करता वह दण्ड प्रयोग यदा।
प्राणी हिंसा में कारणवश, या निष्कारण रत रहे सदा ॥८॥

है हिंसक बाल मृषावादी, मायावी पिशुन धूर्त मानो।
मद्य मांस सेवन कर जग में, श्रेय मानता वह जानो ॥६॥

वह मत्त वचन तन से रहता, धन नारी में आसक्त सदा।
शिशुनाग सदृश दोनों मुख से, मल संचय करता यदा कदा ॥१०॥

फिर रोगग्रस्त हो अज्ञानी, बन ग्लान तप्त मन होता है।
निज अशुभ कर्मका चिन्तन कर, पर लोक भीत हो रोता है ॥११॥

दुःशील जनों की नरकों में, दुर्गति मैंने जो कान सुनी।
क्रूर कर्मयुत बाल जीव की, गाढ़ वेदना करुणधुनी ॥१२॥

है स्थान नरक में यथा दुखद, मैंने शास्त्रों से जाना है।
कर्मानुसार जाता प्राणी, वह पीछे मन पछताता है ॥१३॥

जैसे सारथि छोड़ सुपथ को, जान कुपथ रथ ले जावे।
विषम मार्ग में अक्ष टूटने, पर चिन्तित वह हो जावे ॥१४॥

यों धर्म मार्ग को छोड़ मूढ़ जो, पाप मार्ग पर चलता है।
टूटे अक्ष सारथि सम वह, मृत्यु समय दुःख धरता है ॥१५॥

वह मूर्ख मृत्यु की वेला में, परलोक ताप से डरता है।
जूए में विजित जुआरी सा, निश्चय अकाम वह मरता है ॥१६॥

अज्ञानमरण यह बालों का, है वीर प्रभु ने बतलाया।
अब मुझ से सुनें सकाम मरण, ज्ञानी ने जिसको अपनाया ॥१७॥

है पुण्यवान् का मरण सुना, जैसा मैंने है समझ लिया।
आघात रहित अतिहर्षयुक्त, विजितेन्द्रिय मुनि ने ग्रहण किया ॥१८॥

पाते न मरण यह सभी भिक्षु, और नहीं गृहस्थों में सारे।
विविध रूप व्रतधरे गृही जन, विषमरीति मुनिव्रत धारे ॥१६॥

होते कई गृहस्थ श्रमण से, बढ़ करके धर्म विरतिधारी।
पर सभी गृहस्थों से बढ़कर, होते मुनि जन संयमधारी ॥२०॥

गेरुवस्त्र मृगचर्म नग्नता, जटाकंथ सिरका मुण्डन।
दुःशीलव्रती के लिए कभी, ये सभी न कर सकते रक्षण ॥२१॥

भिक्षाजीवी भी शीलहीन, ना मुक्त नरक से होते हैं।
भिक्षुक अथवा हो गृहवासी, सद्व्रती स्वर्ग-पद पाते हैं ॥२२॥

श्रावक श्रद्धालु निज तन से, सामायिकादि सेवन करते।
दोनों पक्षों में पोषधव्रत, ना एक रात्रि भी कम धरते ॥२३॥

ऐसी शिक्षा से युक्त गृही, यदि सुव्रत पालन करता है।
तजके औदारिक तन अपना, वह देवलोक पद धरता है ॥२४॥

संवरयुत जो साधु यहाँ, दो गति में से वे कोई पाते।
होते हैं दुःख मुक्त अथवा, फिर ऋद्धिमान् सुरवर होते ॥२५॥

है उत्तम आवास देव का, क्रमशः मन्द मोह-द्युतिमान्।
महायशस्वी देवों से वह, भरा हुआ लगता छविमान् ॥२६॥

दीर्घ आयु ऋद्धि के धारक, कामरूप ज्योतिर्धारी।
तत्काल उदित दिनमणि जैसे, तेजस्वी प्रखर किरणधारी ॥२७॥

हो भिक्षाजीवी या गृहस्थ, उपशान्त हृदय जो होते हैं।
संयम तप साधन करके वे, उन श्रेष्ठ पदों में जाते हैं ॥२८॥

उन दान्त संयमी पूज्य जनों का, सुन शिक्षाप्रद यह वर्णन।
शीलवन्त बहुपाठी मुनि, पाते न त्रास जब धरे मरण ॥२६॥

युगल मरण की तुलना कर, ले दयाधर्म का सार विशेष।
क्षान्त्या प्रसन्न मन मेधावी, हो तथाभूत मन जीवन शेष ॥३०॥

मरण समय की इष्ट घड़ी में, श्रद्धालु निर्भय चित्तधरे।
गुरु चरणों में अनशन करके, देहत्याग का भाव करे ॥३१॥

मरण घड़ी आने पर मुनि, अनशन से तन का त्याग करे।
तीन सकाम-मरण में कोई, एक मरण स्वीकार करे ॥३२॥

६. क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

जितने विद्याहीन पुरुष, वे जग में दुःख बढ़ाते हैं।
बहुधा अनन्त इस भव-सागर, में मूढ़ कठिन दुख पाते हैं ॥१॥

जीव योनि के जाति पथों को, पाश जान पण्डित भारी।
स्वयं सत्य की खोज करे, जग जीवों से मैत्रीधारी ॥२॥

जननी जनक स्नुषा भाई, पत्नी और पुत्र नहीं अपना।
निज कर्मभोग से पीड़ित जन का, त्रायक साथी है सपना ॥३॥

यह अर्थ समझ निज प्रज्ञा से, सम्यग्दर्शी यह भाव धरे।
आसक्ति, स्नेह का मूल काट, परिचित जनकी ना चाह करे ॥४॥

गो अश्व और मणिकुण्डल ये, पशु सेवक जन समुदाय सभी।
इन सबकी संगति को तजकर, वह कामरूप हो देव कभी ॥५॥

स्थावर जंगम धनधान्य तथा, उपलब्ध अन्य साधन सारे।
कर्मों से पीड़ित प्राणी के, ये दुःख भोग को ना टारे ॥६॥

अपने सम देखो सब जग को, सुख और आयु बल है प्यारा।
भय वैरों से उपरत हो, मत बनो जीव का हत्यारा ॥७॥

परधन का संग्रह नरक हेतु, यों जान न तृण भी ग्रहण करे।
पाप-भीरु मुनि निज पात्रों में, दिया अन्न स्वीकार करे ॥८॥

यों कतिपय वादी मान रहे, पापों का बिन परित्याग किये।
आचार मात्र की शिक्षा से, ही सम्पूर्ण दुःख की मुक्ति लिये ॥९॥

बन्ध-मोक्ष के परिज्ञाता, परमार्थ कहे पर चले नहीं।
वचन मात्र से जोर दिखा, आश्वस्त स्वयं को करे सही ॥१०॥

नाना भाषा और विद्या के, बल से भी त्राण नहो पाते।
पापकर्म मे सने मूढ़, पण्डित ज्ञानी धोखा खाते ॥११॥

जो इस शरीर में मूर्छित हो, मन वचन काय से प्रीतिवरे।
वर्ण रूप मे सर्वभाव से, मोहित हो दुःख की वृद्धि करे ॥१२॥

अमित विश्व में दीर्घ मार्ग पा, सोच समझ कर चरण धरें।
अतः देख कर सभी दिशा को, अप्रमत्त हो मुनि विचरें ॥१३॥

उच्च लक्ष्यधर भव बाहर के, विषयों की कांक्षा करे नहीं।
संचित कर्मों का क्षय करने, इस तन को धारण करे सही ॥१४॥

कर्म हेतु को दूर हटा, कर्तव्य काल का ध्यान करे।
अशन पान की मात्रा कर, निर्दोष पिण्ड पा देह धरे ॥१५॥

रजनी में साधु नहीं रक्खे, वे लेप मात्र अन्नादिक पास।
ले पात्र चले खगवत् निस्पृह, मन में अदम्य धर के विश्वास ॥१६॥

एषणा सहित लज्जायुत मुनि, अनियत ग्रामादिक में विचरे।
हो अप्रमत्त गृहवासी से वह, पिण्डपात की खोज करे ॥१७॥

इस तरह श्रेष्ठ ज्ञानी-दर्शी, अतिश्रेष्ठ ज्ञान दर्शनधारी।
अर्हन् वैशालिक ज्ञातपुत्र, व्याख्यान किए जनहितकारी ॥१८॥

*

७. उरभ्रीय

उद्देश्य अतिथि को ज्यों कोई, बकरे का पोषण करता है।
चावल जौ खाने को देकर, आँगन में रक्षण करता है।।१।।

पीछे वह बकरा पुष्ट हुआ, बढ़ गया मेद बल स्थूलोदर।
अतितृप्त विपुल बल का धारी, आदेश प्रतीक्षा करता घर।।२।।

जब तक न अतिथि आता घर पै, तब तक वह दुखी जीता है।
शिर काट अतिथि के आने पर, फिर घर में खाया जाता है।।३।।

जैसे निश्चय ही वह बकरा, मेहमान नाम पर पलता है।
वैसे अधर्मयुत अज्ञानी, नरकायु बंध मन धरता है।।४।।

हिंसक मूर्ख मृषावादी, पथिकों का धन हरने वाला।
मायावी चोर धूर्ततायुत, पर वस्तु हरण की मतिवाला।।५।।

नारी और विषय-मूर्छित, आरंभ परिग्रह अतिधारी।
जो सुरा मांस का भोगी है, बलवान् तथा पर-अपकारी।।६

कर्कर्ध्वनि से जो खाता है, अजबत् तुन्दिल अति रक्त भरा।
नर नरक आयु का अभिलाषी, ज्यों अतिथि हेतु अज मरे खरा।।७।।

आसन शय्या रथ वित्तकाम, जीभर के भोग चले जग से।
बहु कष्ट साध्य धन छोड़ चले, अतिकर्म धूलि के संचय से।।८।।

फिर जीव कर्म से भारी हो, प्रत्यक्ष जगत में मन धरता।
बकरे की भाँति अतिथि आए, मरणान्त समय चिन्ता करता ॥९॥

जब आयुक्षीण हो जाती है, हिंसक शरीर तजकर जाता।
आसुरी दिशा में अज्ञानी, तम भरे नरक में दुःख पाता ॥१०॥

जैसे काकणी के हेतु मनुज, है हार हजार यहाँ जाता।
खाकर अपथ्य फल आम्र भूप, लालच में राज्य गँवा जाता ॥११॥

है तुच्छ काम-सुख मनुजों का, ऐसे ही सुर सुख के आगे।
देवों का भोग और जीवन, नर से हजार गुण है आगे ॥१२॥

होती असंख्य वर्षों की है, दिवि प्राज्ञ जनों की आयु नहीं।
जिनको दुर्मेधा विषयी बन, करता शताब्द में नष्ट यहीं ॥१३॥

जैसे तीन वणिक घर से, पूँजी लेकर परदेश गए।
ले लाभ एक लौटा दूजा, घर आया केवल मूल लिए ॥१४॥

एक गँवा पूँजी अपनी, घर आया खाली हाथ लिए।
व्यवहार क्षेत्र की यह उपमा, यों धर्मक्षेत्र में ग्रहण किए ॥१५॥

ऐसे मानुष भव मूल समझ, देवत्व लाभ कहलाता है।
निश्चय नारक तिर्यंच रूप, जीवन धन हानि कहाता है ॥१६॥

मूढ़ जीव की दो गतियां, हिंसा मूलक होती भारी।
रस-लोलुप शठ अमरत्व और, नरभव बाजी देता हारी ॥१७॥

सद्‌गति खोकर जो जाता है, तिर्यक् नारक दो दुर्गति में।
दुर्लभ उसका ऊपर आना, चिरकाल बिताकर सद्‌गति में ॥१८॥

नर सुर भव हारे जन को लख, पण्डित बालों की तुलना कर।
मानवी योनि में जो आते, वे मूल सम्पदा को धरकर ॥१९॥

पाकर अनेक विध शिक्षा को, जो गृही व्रतों में चित्त धरे।
मानुषी योनि को वे पाते, फल सत्य कर्म अनुसरण करे ॥२०॥

जिनको अतिशिक्षा प्राप्त हुई, वे मूल गुणों के पार गए।
शीलवान् सविशेष गुणी, तज दैन्य अमरपद प्राप्त किए ॥२१॥

यों जान अदीन गृही या मुनि को, साधक फिर लाभ गंवाए क्यों।
विषयों से विजित हुआ प्राणी, विकृति से आँख मिलाये क्यों ॥२२॥

जैसे कुशाग्र के जल कण का सागर से कोई माप करे।
वैसे मानव का इन्द्रिय-सुख, सुर सुख के सम्मुख मूल्य धरे ॥२३॥

है कुशाग्रवत् तुच्छ सौख्य, संक्षिप्त आयु भी मानव का।
फिर कौन हेतु आगे करके, ना योग क्षेम समझे निज का ॥२४॥

जग में जो काम-निवृत्त नहीं, उसका आत्मार्थ न हो पाता।
भवतारक पथ को सुनकर भी, जो बारबार विचलित होता ॥२५॥

जो काम भोग से दूर हुआ, उसका निज-लाभ नहीं जाता।
मल मलिन देह तज कर, उसका सुर होना आगम बतलाता ॥२६॥

ऋद्धि कान्ति यश उच्च वर्ण, आयुष्य सौख्य भी श्रेष्ठ जहाँ।
वैसे कुल में च्युत हो स्वर से, लेते हैं फिर वे जन्म वहाँ ॥२७॥

बालत्व देख अज्ञानी का, जो पाप कर्म स्वीकार करे।
तज धर्म अधर्मरुचि वाला, नरकों में जा दुख सहन करे ॥२८॥

धीर पुरुष का धैर्य देख, क्षान्त्यादि धर्म अनुसरण करे।
तज पाप धर्म में लीन बना, वह देव लोक में जन्म धरे ॥२९॥

बाल अबाल भाव की तुलना, कर पण्डित निर्णय करता।
बालभाव को तज करके, मुनि विज्ञभाव सेवन करता ॥३०॥

★

८. कापिलीय

यह नश्वर और अशाश्वत जग, जो प्रचुर दुःख का स्थानक है।
मैं करूं यहाँ पर कौन कर्म, जो दुर्गति दुःख निवारक है ॥१॥

छोड़ पूर्व सम्बन्ध साधुजन, स्नेह किसी से करे नहीं।
स्नेही जन में स्नेह रहित हो, दोष रोष से मुक्त सही ॥२॥

फिर पूर्ण ज्ञान दर्शन से युत, सब जीवों के श्रेयस्कामी।
उनके विमोक्ष हित वीतराग, मुनिधर्म कहे आत्मारामी ॥३॥

है बन्ध हेतु सम्पूर्ण परिग्रह, तजें तथाविध कलहों को।
काम-जाल में दोष देख, रक्षक मुनि दूर रखे मन को ॥४॥

भोग रूप आमिष-रत प्राणी, हित पथ से उलटी बुद्धि धरे।
मूढ़ मंदमति अज्ञानी, मक्खी सम मल में उलझ पड़े ॥५॥

ये कठिन त्यागने योग्य काम, न सहज त्याज्य कायर जनको।
पोतवणिक् सम व्रती साधु, तरते दुस्तर भव सागर को ॥६॥

अज्ञान भाव से हिंसा कर, अपने को श्रमण बताते हैं।
पापदृष्टि से बाल जीव, मतिमन्द नरक में जाते हैं ॥७॥

हिंसादि पाप के अनुमोदक, ना मुक्ति दुखों से पाते हैं।
जिन ने सद्धर्म प्रबोध दिया, वे ही ऐसा बतलाते हैं ॥८॥

अतिपात न करता प्राणों का, वह समितिमान् कहलाता है।
उस त्रायी का सब पाप कर्म, थल से जल सम बह जाता है ॥९॥

जितने त्रस स्थावर जीव जगत के, आश्रय में रहने वाले।
मन वचन काम से कभी नहीं, उनको वध बन्धन में डाले ॥१०॥

शुद्ध एषणा समझ साध, मन उसमें सुस्थिर कर डाले।
संयम निर्वाह हेतु भोजन ले, रस लोलुपता को टाले ॥११॥

नीरस शीतपिंड सेवे मुनि, रुक्ष पुराने उडद-असार।
जीवन यापन को बैर चूर्ण, लेवे इनका भी शुद्धाहार ॥१२॥

लक्षण, स्वप्न, अंगविद्या का, जो मुनि जन में करे प्रचार।
नहीं श्रमण की मर्यादा यह, आचार्यों ने कहा पुकार ॥१३॥

अनियन्त्रित जीवन रख भव में, जो समाधि-पथ से गिरते हैं।
वे काम-भोग रस में मूर्छित, हो असुर योनि को पाते हैं ॥१४॥

फिर असुर योनि से च्युत होकर, भव में बहु चक्कर खाते हैं।
प्रचुर कर्म से लिप्त हुए वे, बोधि-सुलभ ना पाते हैं ॥१५॥

धन धान्यों से पूर्ण लोक यह, दिया एक को यदि जाये।
सन्तुष्ट नहीं होता उससे, इच्छा दुष्पूर न भर पाये ॥१६॥

जैसा लाभ लोभ भी वैसा, लोभ लाभ से बढ़ता है।
दो माशे का कार्य लोभ वश, क्रोड़ों से ना भरता है ॥१७॥

नारी मात्र में प्रीति करो ना, हृदय गांठ, पर चित्त चपल।
जो लुभा पुरुष को दास रूप, से खेला करती है प्रतिपल ॥१८॥

नारी तन पर ना प्रीति करे, स्त्री त्यागी जो अनगारी।
त्यागधर्म को श्रेष्ठ जान, भिक्षुक मन स्थिरता ले धारी ॥१९॥

यही धर्म था कहा कपिल ने, निर्मल प्रज्ञाधारक ने।
धर्म करें वे पार लगेंगे, सब लोक सुधारे साधक ने ॥२०॥

★

६. नमिप्रव्रज्या

अमर लोक से च्युत होकर, नमि ने नर भव में जन्म लिया।
उपशान्त मोह के होने से, निज पूर्व जन्म का स्मरण किया ॥१॥

पूर्व जन्म की स्मृति से नमि ने, श्रेष्ठ धर्म का बोध किया।
राज्य भार सुत को देकर, दीक्षा के हित निष्क्रमण किया ॥२॥

सुर लोक सदृश वर भोगों का, अन्तःपुर में उपभोग किया।
कर भोगबुद्ध नमि राजा ने, मन से भोगों को त्याग दिया ॥३॥

जनपद युत प्रिय मिथिलानगरी, सेना रनिवास तथा परिजन।
सब छोड़ शान्ति पथ निकल पड़े, एकान्तवास में स्थिर धर मन ॥४॥

मिथिला में कोलाहल छाया, जब नमी प्रव्रज्या हेतु चला।
सब राज विभव तज राजर्षि, संयम पथ धारा बहुत भला ॥५॥

ज्ञानादि गुणों की उच्च भूमि, उद्यत हो नमि ने गमन किया।
विप्ररूपधारी सुरपति तब, निकट पहुँच यों कथन किया ॥६॥

राजर्षि ! आज इस मिथिला के, महलों में पुर के घर-घर में।
दारुण कोलाहल व्याप रहा, क्यों बाल वृद्ध सब के स्वर में ॥७॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुति गोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥८॥

था चैत्य वृक्ष मिथिला-पुर में, सुन्दर शीतल छाया वाला।
फल पुष्प पत्र से लदा हुआ, खग गण सेवित बहुगुण वाला॥९॥

हे विप्र ! एक दिन हवा चली, वह चैत्य वृक्ष तब उखड़ गया।
ये पक्षी रोते हैं आश्रित, जिनका सुनीड़ है उजड़ गया॥१०॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुति गोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर॥११॥

यह अग्नि और पवन प्रेरित, जल रहा तुम्हारा मन्दिर है।
हे नाथ ! नहीं क्यों देख रहे, अन्तःपुर जो जलने पर है॥१२॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुति गोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, अन्तर में गहरा चिन्तन कर॥१३॥

हम सुख से बसते जीते हैं, ना यहाँ हमारा कुछ भी है।
मिथिला के जलने से मेरा, जलता न यहाँ पर कुछ भी है॥१४॥

पत्नी पुत्रादिक के त्यागी, व्यवसाय विरत जो भिक्षुक हैं।
प्रिय अप्रिय कुछ भी नहीं वहां, मिट गई चाह जिनकी मन हैं॥१५॥

है बहुत भद्र उस मुनिवर के, भिक्षाजीवी अनगारी के।
सर्व - संग से विप्रमुक्त, एकान्तरूप सुखधारी के॥१६॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र-वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर॥१७॥

राजन् ! परकोटा पुरद्वार, खाई शतमारक अस्त्र बना।
फिर चाहो तुम मुनि बन जाना, एकान्त तपी और शुद्ध मना॥१८॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भरकर॥१९॥

श्रद्धा नगर अर्गला[1] तप संयम, शान्ति का दृढ़ प्राकार[2]।
मन वाणी काया से गोपित, रक्षा का मुनि करे विचार ॥२०॥

धनुष पराक्रम का करके, ईर्या को उसकी डोर करे।
धृति को मूठ बनाकर उसकी, बाँध सत्य से जोर धरे ॥२१॥

तप का तीर चढ़ा धनु ऊपर, कर्मों का कंचुक भेद चले।
हो मुक्त श्रमण इस संगर[3] से, संसार भ्रमण का अन्त करे ॥२२॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, सुरराज अर्थ ऐसा सुनकर।
राजर्षि नमी को इस प्रकार, बोले फिर वचन भाव से भर ॥२३॥

बनवाओ प्रासाद भूप! और वर्द्धमान सुन्दर शाला।
हो चन्द्रशाल उज्ज्वल शीतल, फिर मुनि होकर पकड़ो माला ॥२४॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ मन में लेकर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी अनमोल ज्ञान से भर ॥२५॥

संशय निश्चय वह करता है, जो पथ ही में बनवाता घर।
जाने की इच्छा जहाँ वहाँ, बनवाये शाश्वत अपना घर ॥२६॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, सुरराज अर्थ ऐसा सुनकर।
राजर्षि नमी को इस प्रकार, बोले फिर वचन भाव से भर ॥२७॥

चोर लुटेरें गठकट्टों से, नागर जन को निर्भय करना।
करके कल्याण नगर का तुम, फिर भिक्षापथ पर पद धरना ॥२८॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति से बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥२९॥

---

१. आगल २. परकोटा ३. युद्ध

बहुत बार मानव भ्रमवश, अस्थान दण्ड कर जाते हैं।
दण्डित होते हैं निरपराध, दोषी पूरे बच जाते हैं ॥३०॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर से गहरा चिन्तन कर ॥३१॥

हे नरपति तेरे सन्मुख जो, भूपाल नहीं आके झुकते।
वश में पहले उनको करके, क्षत्रिय ! फिर जाना तुम मन से ॥३२॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥३३॥

दुर्जय रण में दश लाख सुभट पर हँसते विजय मिलाता है।
अपने पर एक विजय करता, वह परम जयी कहलाता है ॥३४॥

कर युद्ध स्वयं से बाहर में, लड़ने से क्या फल मिलता है।
अन्तर्मन से दुर्भाव जीत, मानव हर्षित मन रहता है ॥३५॥

इन्द्रिय पाँच, क्रोध माया मद, लोभ दोष को जान लिया।
दुर्जय आत्मविजय कर निजको, जीते सब जग जीत लिया ॥३६॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्रवचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर ॥३७॥

विपुल यज्ञ का यजन करा, दे भोज्य श्रमण और ब्राह्मण को।
दो दान, भोग और यज्ञ करो, फिर पाना नृप ! मुनि जीवन को ॥३८॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ ऐसा सुनकर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, फिर वचन अमूल्य ज्ञान से भर ॥३९॥

दश लाख गाय जो मास-मास, देता संयम से हो सूना।
दे दान नहीं कुछ भी पर है, संयम का मूल्य सदा दूना ॥४०॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर ॥४१॥

करके तुम त्याग गृहस्थाश्रम, अन्याश्रम की क्यों चाह करो।
घर मे ही पौषधरत रहकर, राजन् ! सेवा का भाव धरो ॥४२॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥४३॥

जो बाल मास का तप करके, भोजन कुशाग्र भर है करता।
श्रुत चरणधर्म की कलाषोडशी, भी वह प्राप्त नहीं करता ॥४४॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर ॥४५॥

सोना चांदी मणि मुक्ता फल, कांस्यादि वस्त्र वाहन सुखकर।
इनसे निज कोष बढ़ा राजन् !, पीछे मुनिव्रत को धारण कर ॥४६॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, अन्तर में गहरा चिन्तन कर ॥४७॥

सोने चांदी के गिरि निश्चय, कैलाश तुल्य अगणित पाले।
फिर भी न लुब्ध को जरा तोष, इच्छा अनन्त नल बिस्तारे ॥४८॥

जो चावल से भरी धरा यह, स्वर्ण और पशुओं के संग।
है न एक के हेतु बहुत, यह सोच धरें हम तप में रंग ॥४९॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर ॥५०॥

आश्चर्य ! बड़े उन्नति क्षण में, नृप ! त्याग भोग का करते हैं।
असद् काम की वांछा से, संकल्पाहत तुम रहते हैं ॥५१॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति को बोले इसप्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥५२।

है काम शल्य और विष भारी, आशीविषवत् जीवन-हारी।
विन भोगे जाते दुर्गति में, कामेच्छा ऐसी दुखकारी ॥५३॥

है क्रोध नीच पद पहुँचाता, अभिमान अधमगति देता है।
माया से सद्गति रुकती है, लोभी दोनों भव खोता है ॥५४॥

विप्र-रूप को छोड़ अमरपति, इन्द्ररूप धारण करके।
करते हुए स्तवन अभिवादन, इन मधुर स्वरों में गा करके ॥५५॥

अहो ! क्रोध को जीता तुमने, किया पराजित तुमने मान।
अहो ! छोड़ दी माया तुमने, वश में किया लोभ शैतान ॥५६॥

अहो ! श्रेष्ठ है आर्जव तेरा, मार्दव भी है हितकारी।
सर्वोत्तम है क्षमा तुम्हारी, लोभ-त्याग विस्मयकारी ॥५७॥

इस भव में तुम उत्तम हो, पर भव में भी होंगे उत्तम।
कर्म धूलि से रहित सिद्धि, पद पाओगे तुम अति उत्तम ॥५८॥

यों करते हुए स्तवन सुरपति ने, उत्तम श्रद्धा से महिमा की।
करके प्रदक्षिणा वार वार, वन्दना नमी नरपति की की ॥५९॥

चक्र और अंकुश चिह्नित, मुनि के चरणों में नमन किया।
ललित चपल कुण्डल किरीटधर, शक्र गगन में उछल गया ॥६०॥

प्रत्यक्ष शक्र से प्रेरित हो, नमि ने संयम मन रमा लिया।
तजकर भवनादिक वैदेही, श्रामण्य भाव मन अटल किया ॥६१॥

संबुद्ध विचक्षण पंडितजन, जग में ऐसा ही करते हैं।
हो दूर भोग से नमि नृपवत्, वे संयम पथ पर चलते हैं ॥६२॥

१०. द्रुम-पत्रक

ज्यों रजनीगण के जाने पर, तरु-पत्र पुराने जाते झर।
वैसे नश्वर मानव-जीवन, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१॥

कुश-नोक[1] लटकते ओसबिन्दु, कुछ देर ठहरते ज्यों उस पर।
वैसे मानव का जीवन है, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२॥

यह अल्पकाल की आयु और, जीवन बहु विघ्नों का है घर।
कर दूर पुराकृत कर्म धूलि, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३॥

चिर दिन से भी सब जीवों को, मानव जीवन है दुर्लभतर।
होते हैं कर्म-विपाक तीव्र, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥४॥

पृथ्वी के भव में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
वसता वह काल असंख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥५॥

अप्काय योनि में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल तक जीवन धर।
वसता वह काल असंख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥६॥

तेजकाय भव जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
वसता वह काल असंख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥७॥

---

१. घास की नोंक

वायुकाय में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
बसता वह काल असंख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥८॥

है हरितकाय भव जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
बसता वह काल अनन्त वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥९॥

दो इन्द्रियकाय पहुँच प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
रहता संख्यामित[1] काल वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१०॥

त्रीन्द्रियकाय पहुँच प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
रहता संख्यामित काल वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥११॥

चतुरिन्द्रिय योनि में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
रहता संख्यामित काल वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१२॥

पंचेन्द्रियभव में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
सात आठ भव ग्रहण करे, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥१३॥

देव नरक गति में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल तन धारण कर।
एक एक भव ग्रहण करे, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१४॥

यों कर्म शुभाशुभ से प्राणी, भवभव में भटके तन धर कर।
विषयों में भूला भान फिरे, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१५॥

दुर्लभ मानव भव पाकर भी, आर्यत्व मिलाना दुर्लभतर।
हैं दस्यु-म्लेच्छ,[2] क्रोड़ों ही नर, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१६॥

पाकर भी आर्यत्व पूर्ण, इन्द्रिय का पाना अति दुष्कर।
हैं कितने इन्द्रिय-विकल यहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१७॥

---

१. संख्यात २. चोर – अनार्य

अविकल पांचों इन्द्रिय पायीं, पर उत्तम धर्म श्रवण दुष्कर।
हैं कुतीर्थसेवी कितने, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१८॥

उत्तम धर्म श्रवण कर भी, श्रद्धा की प्राप्ति पुनः दुष्कर।
मिथ्यात्व निषेवक[1] जन होता, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१९॥

धार्मिक श्रद्धा होने पर भी, कायिक आचरण महादुष्कर।
कितने यहाँ काम-गुण-मूर्च्छित, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२०॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते ये केश धवल पक कर।
घट रहा श्रवणबल भी तेरा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२१॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, ये केशधवल होते पककर।
घट रहा नयनबल है तेरा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२२॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते हैं केश धवल पक कर।
घट रहा घ्राण बल है तोर, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२३॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते हैं केश धवल पक कर।
घट रहा तुम्हारा जिह्वाबल, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२४॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते हैं केश धवल पक कर।
घट रहा स्पर्श का बल तेरा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२५॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते हैं केश धवल पक कर।
क्रमशः सब बल हो रहे क्षीण, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२६॥

फोड़ा पित्त तथा हैजा, करते अनेक रुज[2] तन में घर।
जिनसे विनष्ट होती काया, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२७॥

---

१. मिथ्यात्वी २ रोग

ज्यों शरद-कुमुद जल लिप्त न हो, यों स्नेह भाव को छेदन कर।
हो जा निर्लिप्त जगत से तू, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२८॥

धन पत्नी को छोड़ प्रव्रज्या, से मुनिता के पथ बढ़कर।
वान्त भोग फिर मत पीओ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२९॥

बान्धव मित्र विपुल संचित, धन को पूरे मन से तजकर।
मत फिर से उनकी इच्छा धर, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३०॥

निश्चय न आज जिनका दर्शन, पथ देशक भी ना एक नजर।
भवतारक पथ पर प्राप्त तुम्हें, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३१॥

कण्टकयुत मिथ्या पथ तज के, अवतीर्ण हुए विस्तृत पथ पर।
निर्मल मन से उस पथ पर चल, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३२॥

अबल भारवाही जैसे मत, विषम मार्ग अवगाहन कर।
पछताते उत्पथगामी फिर, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३३॥

कर गया पार तू महा उदधि, तट पर आकर क्यों रहा ठहर।
कर जल्दी पार पहुँचने को, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३४॥

तू सिद्धिलोक को पायेगा, शुभ क्षपक श्रेणि आरोहण कर।
शिव क्षेम अनुत्तरपद को पा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३५॥

संबुद्ध शान्त संयत होकर, तू ग्राम नगर में विचरण कर।
कर शान्ति मार्ग का संवर्धन, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३६॥

पद अर्थ सुशोभित श्रेष्ठ परम, ज्ञानी जन कथित वचन सुनकर।
गौतम गए सिद्धि गति को, निज राग द्वेष का छेदन कर ॥३७॥

✱

११. बहुश्रुत पूजा

जो संयोग-विमुक्त भिक्षु है, स्वेच्छा व्रत धरता अनगार।
कहूं, सुनो मुझसे तुम क्रम से, उनका कैसा है आचार ॥१॥

जो भी विद्या से हीन मनुज, गर्विष्ठ लोलुपी है होता।
अति अक्रमभाषी[1] अजितेन्द्रिय, अविनीत अबहुश्रुत कहलाता ॥२॥

जिन पाँचों कारण से नर को, शिक्षा की प्राप्ति न हो पाये।
वे हैं आलस्य प्रमाद क्रोध, और रोग मान मन अकुलाये ॥३॥

आठ गुणों से युक्त मनुज, शिक्षा का होता अधिकारी।
ना हास्यशील और दान्त सदा, ना मर्म प्रकाशे दुःखकारी ॥४॥

चारित्रहीन ना विकृतिशील[2], अतिशय रस लोलुप हो न कभी।
क्रोध न करे सत्यरत होवे, कहलाये शिक्षाशील वही ॥५॥

चौदह स्थानों में वर्तमान, मुनि विनयहीन है कहलाता।
अपने ही दोषों के कारण, वह मुक्त नहीं है हो पाता ॥६॥

करता जो बारम्बार क्रोध, या क्रोध टिका कर रखता है।
ठुकराता प्रेमी की मैत्री, श्रुत पाकर जो मद करता है ॥७॥

---

१. अनर्गल बोलने वाला

२. विगय का सेवन करने वाला

अपमान करे जो पर त्रुटि पर, जो मित्रों पर भी क्रोध करे।
प्रिय मित्र जनों का भी जग में, एकान्त पाप का कथन करे ॥८॥

जो असम्बद्धभाषी द्रोही, दर्पी, लोभी, मन - अनुगामी।
संभाग-रहित[1] अप्रीतिपात्र, अविनीत न होता शुभकामी ॥९॥

पन्द्रह सद्‌गुण के धारण से, सुविनीत मनुज कहलाता है।
जो नम्र अचंचल कपट-हीन, मन में न कुतूहल लाता है ॥१०॥

हो क्रोध अल्प करने वाला, रखता न टिकाकर क्रोध कभी।
होता कृतज्ञ मित्रों के प्रति, मद करे न जो श्रुत पाकर भी ॥११॥

त्रुटि पर न करे निन्दा पर की, मित्रों पर क्रोध नहीं करता।
जो अप्रिय मित्र जनों का भी, पीछे से हितकर ही कहता ॥१२॥

जो कलह युद्ध का वर्जक है, तत्वज्ञ कुलीन कहाता है।
इन्द्रिय-मन-गोपक लज्जालु, सुविनीत वही कहलाता है ॥१३॥

गुरु कुल में वास सदा करता, हो योग निष्ठ उपधान तपी।
प्रियकारी वा प्रियभाषी नर, पाता शिक्षा का लाभ जपी ॥१४॥

जिस भाँति शंख में रहा दूध, है उभयरूप शोभाधारी।
वैसे ही बहुश्रुत मुनियों में, है धर्म कीर्ति श्रुत सुखकारी ॥१५॥

जैसे कम्बोजी अश्वों में, गुण शील युक्त कन्थक होता।
वह गति से श्रेष्ठ कहाता है, वैसे मुनि में बहुश्रुत होता ॥१६॥

ज्यों जातिमन्त अश्वारोही, अतिशूर अटल पौरुष धारी।
युग पार्श्ववाद्य से वह शोभित, होता बहुश्रुत यों आचारी ॥१७॥

---

१. बाँटकर नहीं खाने वाला

ज्यों साठ वर्ष का तरुण करी, हथिनी दल से शोभित होता।
अपराजित बलशाली वैसे, बहुश्रुत मुनि में शोभा पाता ॥१८॥

ज्यों तीक्ष्ण शृंग और पुष्टकन्ध का बैल यूथ अधिपति होकर।
पाता शोभा इस धरती पर, वैसे शोभे बहुश्रुत मुनिवर ॥१९॥

जैसे वह तेज दाढ़ वाला, पशु श्रेष्ठ सिंह इस धरती पर।
अपराजित शूर तरुण होता, वैसे होते बहुश्रुत मुनिवर ॥२०॥

ज्यों शंख चक्र गदाधारी, नारायण नर में शोभित हैं।
अपराजित योद्धा बलशाली, वैसे बहुश्रुत मुनिवर भी हैं ॥२१॥

चतुरन्त चक्रवर्ती जैसे, होता है महा ऋद्धिशाली।
चौदह रत्नों का अधिकारी, त्यों होता बहुश्रुत सुखकारी ॥२२॥

ज्यों सहस्राक्ष और वज्रपाणि, सुरपति वह शक्र पुरन्दर है।
वैसे आध्यात्मिक वैभव का, अधिपति होता बहुश्रुत नर है ॥२३॥

जैसे वह तिमिरध्वसकारी, नभ में उठता सा दिनकर है।
निज तेज राशि से जलता है, वैसे होता बहुश्रुत नर है ॥२४॥

तारा - गण से घिरे हुए, ज्यों उडुपति चन्द्र सुशोभित है।
पूनम में पूर्ण रूपधारी, वैसे मुनिगण में बहुश्रुत है ॥२५॥

जैसे सामाजिक लोगों का, कोठार सुरक्षित रहता है।
परिपूर्ण धान्य सम श्रुतवाणी, से भरा बहुश्रुत होता है ॥२६॥

जैसे वृक्षों में श्रेष्ठ वृक्ष, जम्बु सुदर्शन है जग में।
आदर विहीन सुर का आश्रय, वैसे बहुश्रुत जिन मग में ॥२७॥

ज्यों सागर में मिलने वाली, शीता नदियों में श्रेष्ठ कही।
नीलवान् उद्गम जिसका, शोभा बहुश्रुत की जान वही ॥२८॥

जैसे हेमाद्रि महागिरिको, जग के भूधर[१] में श्रेष्ठ कहा।
नाना औषधियों से प्रदीप्त, त्यों बहुश्रुत मुनियों में दीप्त अहा ॥२९॥

ज्यों जलधि स्वयंभूरमण यहाँ, परिपूर्ण नीर कहलाता है।
नाना रत्नों से पूर्ण भरा, बहुश्रुत त्यों माना जाता है ॥३०॥

जो सागर सम गम्भीर दुराश्रय, निर्भय अविजित सन्त हुए।
श्रुत रत्न पूर्ण जगती त्राता, निज कर्म नाश कर सिद्धि गए ॥३१॥

इसलिए मोक्ष के अन्वेषक, जन श्रुत का ही आश्रयण करे।
जिससे निज को और पर जन को, बन्धन विमुक्ति का लाभ लहे ॥३२॥

★

---

१. पर्वत

१२. हरिकेशीय

चाण्डाल वंश में हो उद्भव, ज्ञानादि श्रेष्ठ गुण के धारी।
हरिकेशीबल नामक भिक्षु, थे विजितेन्द्रिय संयमधारी ॥१॥

ईर्या भाषा तथा एषणा, और परिष्ठापन उच्चार।
निक्षेप तथा आदान समिति में, थे संयत मन शान्त विचार ॥२॥

मन वचन काय की गुप्ति से, रक्षित विजितेन्द्रिय तपधारी।
ब्रह्मयज्ञ के यज्ञस्थान, भिक्षार्थ गए मुनिव्रतधारी ॥३॥

प्रान्त मलिन - उपकरण और, तप से परिशोषित मुनि जन को।
आते देख यज्ञमंडप में, निर्धर्म विप्र हंसते उनको ॥४॥

जाति मान से मन्त विप्र, हिंसक इन्द्रिय के दास बने।
वे ब्रह्मचर्य से हीन मूढ़, यह वचन कहे यों द्वेष सने ॥५॥

यह दीप्त रूप आ रहा कौन, काला विकराल स्थूलनक्का।
है अर्द्धनग्न ज्यों भूत प्रेत, चिथड़ा गर्दन में धर रक्खा ॥६॥

तुम कौन अदर्शनीय नर हो, आए ले आशा कौन यहाँ।
लगते अध नंगे भूत तुल्य, जाओ जाओ क्यों खड़े यहाँ ॥७॥

तिन्दुक तरुवासी यक्ष वहाँ, उस मुनि पर अनुकम्पा करके।
निज रूप छिपा ब्राह्मण गण से, यों बोला वचन भाव धर के ॥८॥

हूँ श्रमण संयमी ब्रह्मव्रती, धन पाक परिग्रह का त्यागी।
परहित निष्पन्न अन्न कारण, आया भिक्षा को वैरागी ॥९॥

बाँटा खाया भोगा जाता, विपुलान्न आपके इस घर में।
जानो मुझको भिक्षाजीवी, कुछ शेष मिले इस अवसर में ॥१०॥

भोजन विप्रों के हेतु बना, केवल उनको ही देना है।
है व्यर्थ ठहरना तुम्हें यहाँ, जल अन्न नहीं यह देना है ॥११॥

बोते बीज कृषक आशा से, ऊँचे वा नीचे थल में।
उसी भाव से दो मुझको, यह होता न पुण्य निष्फल थल में ॥१२॥

हैं क्षेत्र हमारे ज्ञात यहाँ, जिनमें उगते सब बीज कदा।
जो विप्र जाति विद्या से युत, जग में सुन्दर वे क्षेत्र सदा ॥१३॥

है क्रोध मान हिंसा असत्य, और चौर्य परिग्रह भी जिनमें।
वे विप्र जाति विद्या-विहीन, अति पाप क्षेत्र जानो मन में ॥१४॥

तुम वाणी का ढो रहे भार, पढ़ वेद अर्थ ना जान रहे।
ऊँचे नीचे कुल में जाते, मुनि जाते पावन क्षेत्र कहे ॥१५॥

हम अध्यापक जन के आगे, प्रतिकूल वचन क्यों तू बोले।
निर्ग्रन्थ ! तुम्हें हम ना देंगे, चाहे भोजन सड़ जाय भले। १६॥

समिति समाहित गुप्ति-गुप्त, इन्द्रियजित मेरे लिए अभी।
निर्दोष अन्न जल ना दोगे, क्या पाओगे फल यज्ञ कभी ॥१७॥

है कौन यहाँ क्षत्रिय पाचक, वा छात्र संगपाठक घर पर।
जो मार इसे डंडे मुक्के, और कण्ठ पकड़ कर दे बाहर ॥१८॥

अध्यापक की वाणी सुनकर, जल्दी में दौड़े छात्र वहाँ।
डंडे, बेतों और चाबुक से, आ ऋषि को ताडन लगे वहाँ ॥१९॥

नृप कौशलिक तनया भद्रा, जिसके अनिन्द्य सब अंग बने।
उस मुनि पर करते मार देख, छात्रों को लगी शान्त करने ॥२०॥

देवयोग प्रेरित नृप ने, इनकी सेवा में दे डाला।
देखा न मुझे मन से ये तब, सुर-नर-पति पूजित व्रत वाला ॥२१॥

यह निश्चय मुनि हैं उग्रतपी, इन्द्रियजित् संयत ब्रह्मव्रती।
जो पिता कौशलिक नृप द्वारा, दी गयी न चाही मुझे कभी ॥२२॥

मत हील[1] यशस्वी महाभाग ये, अत्यन्त बली और घोरव्रती।
कर दें न तेज से भस्म तुम्हें, हैं पूज्य अवज्ञा पात्र नहीं ॥२३॥

उस विप्र वधू भद्रा के सुनकर, वचन सुभाषित हितकारी।
ऋषि सेवा हित लगे यक्ष ने, रोका कुमार को उपकारी ॥२४॥

वे घोर असुर नभ में स्थित हो, उन सबको दंड प्रदान किया।
भिन्न देह, मुंह रक्त गिराते, लख फिर भद्रा ने बोध दिया ॥२५॥

नख से पर्वत को खोद रहे, दांतों से लोह चबाते हो।
जो श्रमण - अनादर करते हो, पैरों से अग्नि दबाते हो ॥२६॥

आशीविष उग्रतपी ऋषिवर, हैं घोर पराक्रम व्रतधारी।
पावक[2] में गिरते दल पतंग सम, भिक्षा में होता दुःखकारी ॥२७॥

यदि चाह रहे हो जीवन धन, तो नत सिर सब मिल गहो शरण।
हो रुष्ट साधु यह तपधारी, कर सकता क्षण में लोक दहन ॥२८॥

सिर पीछे की ओर झुके, फैले भुज चेष्टा बन्द हुयी।
खुल रही आंख शोणित[3] बहते, मुँह ऊपर नयन जीभ निकली ॥२९॥

---

१. हीलना मत कर   २. अग्नि   ३. रक्त

छात्रों को निश्चेष्ट काष्ठवत्, देख विप्रमन हुआ विषाद।
सपत्नीक ऋषि को खुश करने, बोला क्षमा करें अपराध ॥३०॥

अज्ञ मूर्ख इन बाल जनों ने, मुनिवर ! हीलित अपमान किया।
बहु क्षमा करें, होते प्रसन्न मुनि, होती न क्रोध वश कभी क्रिया ॥३१॥

है अभी न रोष मन में मेरे, था पूर्व न आगे भी होगा।
करते हैं यक्ष यहाँ सेवा, उसने इनको मारा होगा ॥३२॥

अर्थ धर्मवित् भूतिप्रज्ञ, करते न क्रोध हैं आप कभी।
यह सोच आपके चरण शरण में आ पहुँचे हम आज सभी ॥३३॥

हे महाभाग ! पूजें तुमको, कुछ भी न तेरा जो पूज्य नहीं।
लें भोजन शालि अन्न आदिक, नाना व्यंजन से युक्त यहीं ॥३४॥

हैं अन्न बहुत मेरे घर पर, खायें वह कृपा दिखा हम पर।
हां, कह मुनि ने वह भक्त पान, ले लिया मास तप पारण पर ॥३५॥

देवों ने वहां सुगन्धित जल, और दिव्य पुष्प धन बरसाया।
दुन्दुभी बजायी थी नभ में, और 'अहोदान' हर्षित गाया ॥३६॥

प्रत्यक्ष दीखती तप-महिमा, है नहीं जाति की यह महिमा।
चाण्डाल तनय हरिकेश साधु में, ऋद्धि और तप की गरिमा ॥३७॥

क्यों विप्र ! अग्नि प्रज्वालित कर, बाहर जल से शोधन करते।
जो बाह्य शुद्धि की खोज करे, ना कुशल सुदृष्ट उसे कहते ॥३८॥

तृण काष्ठ अग्नि और दर्भयूप, सायं प्रातः जब स्पर्श करे।
कर प्राण-भूत की जग हिंसा, मतिमंद पाप फिर बँध करे ॥३९॥

हे भिक्षु ! करें किस भांति यज्ञ, हों नष्ट पाप जो मार्ग लिया।
हे यक्ष पूज्य ! संयत ! बोलो, कैसा सुज्ञों ने यज्ञ किया ॥४०॥

मिथ्याभाषण चोरी त्यागे, षट्काय जीव का वध न करे।
मैथुन मद माया संग्रह का, कर ज्ञान दान्त तज जग विचरे ॥४१॥

पांचों संवर से संवृत जो, अविरत जीवन को ना चाहे।
उत्सृष्टकाय शुचि त्यक्त देह, कर्मारिविजय वर यज्ञ कहे ॥४२॥

है कौन ज्योति, क्या स्थान ज्योति का? श्रुव कौन तथा कण्डे कैसे ?
ईन्धन है कौन शान्ति कैसी, किस होम से हवन करो कैसे ॥४३॥

है तपोज्योति शुभ स्थान जीव, है श्रुवा[१] योग कण्डा है तन।
कर्मेन्धन संयम शान्तिपाठ, करता हूँ मुनि का श्रेष्ठ यजन ॥४४॥

ह्रद और कौन है शान्ति तीर्थ, तुम कहां नहा रज हरते हो।
इच्छा मेरी जानूं तुम से, हे यक्षपूज्य ! क्या कहते हो ॥४५॥

ब्रह्म शान्ति का तीर्थ, धर्म ह्रद, स्वच्छ मुदित लेश्या वाला।
जिसमें नहा दोष को छोडूं, विमल शीत शुचि गुणवाला ॥४६॥

कुशलों ने देखा स्नान यहीं, ऋषियों का उत्तम स्नान महा।
जिसमें नहा महा ऋषिवर ने, विमल शुद्ध वर पद पाया ॥४७॥

★

१. कड़छी

१३. चित्त-सम्भूतीय

हस्तिनपुर में जाति निमित्तक, किया निदान निन्दा पाकर।
चूलनी-कुक्षि से ब्रह्मदत्त, जन्मा प्रिय सुरभव से आकर॥१॥

सम्भूत जन्म काम्पिल्य नगर, और पुरिमताल में चित्त हुआ।
हो सेठ महाकुल में फिर भी, सुन धर्म प्रव्रज्या ग्रहण किया॥२॥

काम्पिल्य नगर में चित्त और, संभूत परस्पर मिल पाये।
अपने सुख दुःख का फल विपाक, दोनों को दोनों बतलाये॥३॥

महाऋद्धि संयुत् चक्री था, महायशस्वी भू स्वामी।
बहुमान पुरस्सर ब्रह्मदत्त, भाई को बोला हितकामी॥४॥

हम दोनों पहले भाई थे, अन्योन्य प्रेम के वश रहते।
अनुरक्त परस्पर में दोनों, हित एक दूसरे का कहते॥५॥

थे दोनों दास दशार्ण बीच, मृग कालिंजर पर्वत पर थे।
मृत-गंगा तट पर रहे हंस, चाण्डाल बने काशी में थे॥६॥

सौधर्म-लोक में देव हुए, अति ऋद्धिमान दोनों भाई।
हम सबका यह छट्ठा भव है, जिसमें छूटी है मित्राई॥७॥

कर निदान चक्री पद का, राजन्! तुमने मन ध्यान किया।
उस भोग कर्म के फलस्वरूप, हमने वियोग फल प्राप्त किया॥८॥

सत्य शौचमय प्रकट कर्म, मैंने पहले करलिए भले।
हूँ आज भोगता फल उसका, क्या चित्त ! तुम्हें भी वही मिले ॥९॥

शुभ कर्म सफल नर के होते, है कृत-कर्मों से मुक्ति नहीं।
श्रेष्ठ अर्थ और कामों से, शुभ फल आत्मा यह भोग रहीं ॥१०॥

संभूत जान अति भाग्यवान, अति-ऋद्धियुक्त शुभ फलवाला।
इस चित्तजीव को भी राजन् ! जानो यों कान्ति ऋद्धि वाला ॥११॥

बहु अर्थ स्वल्प शब्दों वाली, गाथा गायी मुनि जनगण में
अर्जन करते मुनि शील-गुणी, सुन मैं भी श्रमण बना क्षण में ॥१२॥

उच्चोदय कर्क मध्य ब्रह्मा, मधु रम्यावास सजे सारे।
धन धान्य भरा घर भोग करो, पांचालक गुण शोभा धारे ॥१३॥

शुभ नाट्य गीत और वाद्य सहित, नारी जन से परिवृत होकर।
भोगो इन भोगों को भिक्षो ! लगती मुनिता मुझको दुःखकर ॥१४॥

पूर्व प्रेम से अनुरागी, अतिशय कामी उस भूधव को।
धर्माश्रित उसका हित चिन्तक, यों कहा चित्त ने नृप वर को ॥१५॥

हैं सारे गीत विलाप तुल्य, हैं विडम्बना नाटक सारे।
हैं आभूषण सब भार यहां, दुःखदायी काम-भोग सारे ॥१६॥

बाल-मनोहर दुःखदायी, कामों में वह सुख कहीं नहीं।
जो काम-विरत उस तपोवनी, भिक्षुक को सुख प्राप्त यहीं ॥१७॥

अधम जाति चाण्डाल मनुज की, उसमें हम दोनों जन्म लिए।
हम बसे वहाँ सबसे निन्दित हो, चाण्डाल कुलों में कर्म किए ॥१८॥

उस पाप युक्त चाण्डाल जाति में, जन्म वास हमने पाया।
सब जन के घृणापात्र होकर, इस भव में संचित फल पाया ॥१९॥

महाभाग हे भूप ! यहां अब, पुण्य फलोचित पद पाकर ।
दीक्षा के हेतु बढ़ो आगे, नश्वर भोगों को ठुकरा कर ॥२०॥

अस्थिर इस जीवन में भूधव ! जो अतिशय पुण्य न कर पाता ।
बिना धर्म के मरणकाल, और परभव में है पछताता ॥२१॥

ज्यों सिंह पकड़ ले जाता मृग को, त्यों मृत्यु मनुज को ले जाती ।
ना माता भाई और पिता, उस क्षण में होते हैं साथी ॥२२॥

पुत्र मित्र या बन्धु जाति जन, उस दु:ख में भाग नहीं करते ।
स्वयं अकेला दु:ख भोगे नर, कर्ता के फल पीछे चलते ॥२३॥

द्विपद चतुष्पद क्षेत्र भवन धन, धान्य और माया तजकर ।
परभव में सुख दु:ख पाने को, वह जाता कर्म विवश बनकर ॥२४॥

वह तुच्छ देह चिति पर रखके, पावक से उसे जलाते हैं ।
पत्नी पुत्र बन्धु जन सब, फिर अन्य दातृ संग जाते हैं ॥२५॥

सतत कर्म यह जीवन हरता, जरा कान्ति का हरण करें ।
पांचालराज ! यह वचन श्रवणकर, मत अति कर्मों का बन्ध करें ॥२६॥

मुनिवर जैसा तुम बोल रहे, मैं भी तो वैसा जान रहा ।
ये भोग रागवर्धक होते, हम से दुर्जेय, मन मान रहा ॥२७॥

नगर हस्तिनापुर में मैंने, देखा शतखण्ड धनी राया ।
तब काम भोग से मूर्छित हो, संकल्प भोग का करवाया ॥२८॥

किया न दोष का प्रतिक्रमण, मैंने उसका वह फल पाया ।
जान धर्म को, काम भोग में, मूर्छित मन हो ललचाया ॥२९॥

जैसे कीचड़ में फँसा नाग, तट देख न वहां पहुँच पाता ।
वैसे कामों में लीन बना, मैं भिक्षु मार्ग ना जा पाता ॥३०॥

जाता समय रात्रियाँ जातीं, भोग पुरुष के नित्य नहीं।
मिल कर भोग तजे नर को, फलहीन वृक्ष खग[1] रहे नहीं ॥३१॥

राजन् ! यदि भोग न तज सकते, तो आर्यकर्म भी कर डालो।
धर्मस्थित हो प्रजा हितैषी, जिससे सुर का शुभ पद पा लो ॥३२॥

ना भोग त्याग की मति तेरी, आरंभ-परिग्रह मूर्छित हो।
तो व्यर्थ प्रलाप किया मैंने, जाता हूँ भूप ! उपेक्षित हो ॥३३॥

पाञ्चाल भूप वह ब्रह्मदत्त, मुनिवर का वचन अमानित कर।
गया अनुत्तर[2] नरक बीच, अतिशय भोगों का अनुभव कर ॥३४॥

काम भोग से विरत चित्त भी, उग्रतपस्वी व्रतधारी।
निर्दोष विरति का पालन कर, हो गए सिद्धि गति अधिकारी ॥३५॥

★

---

१. पक्षी २. सातवीं नरक भूमि

१४. इषुकारीय

हो पूर्व जन्म में देव कई, सुर-पद से च्युत होकर आए।
प्राचीन नगर इषुकार ख्यात, सुर-पुर-सम सम्पत् को पाए ॥१॥

निज शेष पुराकृत कर्मों से, अति उच्च कुलों में जन्म लिया।
भव-भय से पा निर्वेद छोड़, प्रिय आर्हत् पथ स्वीकार किया ॥२॥

पुरुष रूपधर युगल पुत्र, प्रोहित और पत्नी यशेश्वरी।
विस्तीर्ण कीर्ति इषुकार भूप, देवी कमला थी प्रेम भरी ॥३॥

जन्म जरा और मरण भीत, शिवपथ दोनों के मन भाये।
संसार चक्र के मोचन हित, मुनि देख, विरति वे मन लाये ॥४॥

निज कर्म निरत उस ब्राह्मण के, प्रिय पुत्र युगल मन जाग गए।
जग गयी पूर्व की जन्म स्मृति, तप संयम व्रत सब ज्ञात हुए ॥५॥

दिव्य मानुषी भोगों में, उनकी भोगेच्छा रही नहीं।
हो मोक्ष भाव श्रद्धा संयुत, आ पास तात से बात कही ॥६॥

यह दृश्य देख नश्वर जग का, अल्पायु तथा बहु विघ्न भरे।
मिलती न शान्ति मुझको घर में, अनुमति दें मुनिता ग्रहण करें ॥७॥

भूसुर ने उत्तर में उनको, संयम-व्याघातक बात कही।
वेदों के ज्ञाता कहते हैं, संतति विहीन का लोक नहीं ॥८॥

पढ़ वेद विप्र को भोजन दे, घर में सुत को स्थापित करके।
लो भोग - भोग नारी के संग, हो आरण्यक मुनिव्रत धर के ॥९॥

आत्म - गुणेन्धन[1] मोह-पवन, और शोक-वह्नि[2] से जलता था।
परितप्त हृदय सुत ममता से, बहु विध करके समझाता था ॥१०॥

भू सुर[3] धन भोगों से क्रमशः, सुत को आमन्त्रण प्रेम करे।
देख पुरोहित को वैसे, यों पुत्र ज्ञान की बात करे ॥११॥

वेदों के पढ़ने से त्राण, और विप्र खिलाये तमस् गिरे।
पुत्र हुए भी त्राण नहीं, फिर वचन आपका कौन करे ? ॥१२॥

क्षण मात्र सुखद चिरकाल दुःख, अति दुःख स्वल्प सुखकारी है।
है भोग मोक्ष के प्रतिगामी, संकट - खानि दुःखकारी है ॥१३॥

अनिवृत्त कामना से प्राणी, दिन - रात तप्त मन फिरते हैं।
पर हेतु प्रमत्त धनाकांक्षी, नर मृत्यु जरा को पाते हैं ॥१४॥

यह मुझको है यह न हमें, यह कृत्य अकृत्य रहा मेरा।
यों कहते करता काल हरण, फिर क्यों प्रमाद डाले डेरा ॥१५॥

मन हर नारी और धन प्रभूत, स्वजन काम गुण विपुल रहा।
तप करते जन जिस कारण, स्वाधीन यहाँ सब तुम्हें अहा ॥१६॥

धर्म धुरा के धारण में, धन, स्वजन काम गुण से है क्या ? ।
हम गुणधारी वर श्रमण बनेंगे, भिक्षाजीवी विषयों से क्या ? ॥१७॥

जैसे तिल में तेल, क्षीर घृत, अनल अरणि से प्रकटाता।
वैसे तन में जीव प्रकट होता, न किन्तु है टिक पाता ॥१८॥

---

१. रागादि गुण रूप इन्धन २. शोक रूप अग्नि ३. पुरोहित

आत्मा नित्य अमूर्त भाव वश, इन्द्रियग्राह्य नहीं होता।
आत्म-दोष मूलक बन्धन है, संसार हेतु बन्धन होता ॥१९॥

हम धर्म ज्ञान के बिना मोहवश, पाप किये पहले भारी।
अवरोध और संरक्षण पा, वह फिर न करेंगे दुःखकारी ॥२०॥

हो रहा लोक यह अति पीड़ित, दुःख से यह चारों ओर घिरा।
आती है काली रात यहाँ, घर में सुख मिलता नहीं जरा ॥२१॥

किससे पीड़ित हो रहा लोक, और घिरा हुआ है यह किससे ?।
है कौन अमोघा कहलाती, हूँ पुत्र ! बड़ा चिन्तित इससे ॥२२॥

यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, और जरा रोग से घिरा हुआ।
है रात्रि अमोघा कहलाती, हे तात ! जान लें शास्त्र कहा ॥२३॥

जो जो जाती है बीत निशा, वे नहीं लौटकर हैं आती।
करते अधर्म जो जन जग में, उनकी ये रात विफल जाती ॥२४॥

जो जो जाती है निशा बीत, वे नहीं लौटकर हैं आतीं।
करते जो धर्माराधन हैं, उनकी वे रात सफल जातीं ॥२५॥

पुत्रों ! हम सब एक साथ रह, दर्शनव्रत धारण कर लें।
फिर संयम में आगे बढ़ के, घर घर भिक्षा से तन धर लें ॥२६॥

है मृत्यु संग मैत्री जिसकी, अथवा जो उससे भाग सके।
जो जाने मरण नहीं होगा, वह कल की इच्छा धार सके ॥२७॥

हम धर्म आज ही ग्रहण करें, पा जिसको फिर ना जन्म धरें।
अप्राप्त नहीं कुछ भी हमको, श्रद्धा समर्थ ना राग करें ॥२८॥

हो पुत्रहीन का वास नहीं, वासिष्ठि ! काल यह भिक्षा का।
पाता समाधि तरु शाखा से, जो शाख-विहीन ठंडा तरु का ॥२९॥

पंखहीन खग ज्यों जग में, सेना बिन निर्बल नृप रण में।
धनहीन वणिक् ज्यों नौका पर, त्यों व्यक्त-पुत्र मैं हूँ जन में ॥३०॥

अतिशय सुन्दर शब्दादि विषय, पुञ्जीकृत उत्तम रस वाले।
भोगों को मन भर अनुभव कर, हम चलें मुक्तिपथ मत वाले ॥३१॥

भोगे रस तजती है आयु, जीवन हित हम ना भोग तजें।
लाभ-हानि, सुख-दुःख सब सम, यह देख श्रेष्ठ मुनि धर्म भजें ॥३२॥

आवे न याद निज सोदर की, बन जीर्ण हँसवत् प्रतिगामी।
इसलिए भोग लें साथ भोग, भिक्षुक जीवन है दुःखकामी ॥३३॥

छोड़ केंचुली यथा सर्प, निस्नेह भाव से गमन करें।
जाते सुत वैसे भोग त्याग, हम क्यों न गमन का भाव धरें ॥३४॥

जैसे रोहितमत्स्य जीर्ण, है जाल काट बाहर जाता।
वैसे धीर उदार तपीजन, भोग छोड़ मुनिव्रत पाता ॥३५॥

जैसे क्रौंच हँस गण नभ में, काट जाल को उड़ जाये।
जाते पुत्र और मेरे पति, मैं क्यों न चलूं मन हर्षाये ॥३६॥

सुत-दारा संग भूसुर ने, तज भोग महाव्रत धार लिया।
सब वैभव उसका मंगा लिया, तब रानी ने उपदेश दिया ॥३७॥

राजन् ! नही प्रशंसा होती, जो खाते हैं किया वमन।
कैसे लेना चाह रहे हो, ब्राह्मण ने जो छोड़ा धन ॥३८॥

जग सारा यदि हो तेरा, सब धन भी तेरा हो जाये।
वह सब तेरे हित अपर्याप्त, उनसे न त्राण तब हो पाये ॥३९॥

जब छोड़ मनोरम काम भोग, राजन् ! तू मर कर जायेगा।
रक्षक तब होगा एक धर्म, रक्षक न अन्य तू पायेगा ॥४०॥

पिंजर में खगवत् मैं रहती, कर बन्धछेद मैं विचरूंगी।
निष्कांचन मनसरल भोग तज, दोष-रहित बन जाऊँगी ॥४१॥

दावानल से जलकर मरते, वन में जीवों को देख यथा।
जिन पर सवार हैं राग द्वेष, हर्षित होते वे जीव वृथा ॥४२॥

ऐसे ही हम सब मूढ़ बने, आसक्त विषय सुख भोगों में।
राग-द्वेष में जलता जग, पर बोध जगे ना लोगों में ॥४३॥

भोग भोग कर त्याग करे, ज्ञानी लघुकर्मा बनते हैं।
खग कुल सम इच्छाचारी[1] हो, हर्षित मन हो वे चलते हैं ॥४४॥

हे आर्य ! हाथ आये मेरे, हैं बंधे काम ये उछल रहे।
हम काम-गुणों में बँधे रहे, अब होंगे ज्यों सुत विचर रहे ॥४५॥

देख कुलल के पास मांस, झपटे खग नहीं निरामिष पर।
आमिषवत् पूर्ण भोग तज कर, विहरूंगी मैं अविषय बनकर ॥४६॥

लो जान गीध की उपमा से, है काम भोग भव-वर्धनकर।
शंकित हो इनसे चलें यथा, चलता खगपति[2] से अहि डरकर ॥४७॥

जैसे गज बन्धन तोड़ विपिन, वसने को हर्षित हो जाता।
हमने यह तथ्य सुना राजन् ! कर राग त्याग शिव पद पाता ॥४८॥

राजा और रानी विपुल राज्य, तज काम भोग अतिशय दुस्तर।
निर्विषय निरामिष स्नेहहीन, हो गए जगत् बन्धन से पर ॥४९॥

वे सम्यक् धर्म स्वरूप जान, उत्तम भोगों को तज करके।
जिन कथित घोर तप धार लिए, पौरुष दृढ़ मन में धर करके ॥५०॥

---

१. मनोनुकूल बिहार करने वाला   २. गरुड़

यों देवदत्त आदिक क्रम से, सब धर्म-परायण बुद्ध हुए।
हो जन्म मरण भय से विह्वल, दुखान्त-मार्ग[1] को खोज लिए ॥५१॥

अर्हत् शासन में मोह त्याग, वे पूर्व भावना भावित जन।
कर गए अन्त सब दुःखों का, कर अल्पकाल में मोक्ष गमन ॥५२॥

राजा रानी के संग चला, पत्नी संग विप्र पुरोहित भी।
युग-पुत्र लगे पहले शिव पथ, हो गए दुःख से मुक्त सभी ॥५३॥

★

---

१. दुःख का अंत करने वाला मार्ग

१५. सभिक्षुक

धर्म ज्ञात कर मुनिव्रत लूंगा, ऋजु-क्रिय मुनि सह छिन्न निदान।
जग परिचय तज काम रहित, अज्ञातगवेषी को मुनि जान ॥१॥

राग विरत शुभ रीति चले, शास्त्रज्ञ पाप का हरता ध्यान।
दोष हटाकर अतिदर्शी, जो कहीं न मूर्छित वह मुनि जान ॥२॥

आक्रोश वधादिक जान हृदय, मुनि आत्मवशी ले कर्म निदान।
तज हर्ष शोक सब सहन करे, हो धीर शान्त मन वह मुनि जान ॥३॥

तुच्छ शयन आसन पाकर, शीतोष्ण दंश का कष्ट महान्।
जो व्यग्र और ना हृष्ट बने, अति कष्ट सहे लो वह मुनिजान ॥४॥

महिमा पूजा की चाह नहीं, जिसको न ख्याति वन्दन का ध्यान।
वह व्रती तपी संयत ज्ञानी, आत्मान्वेषी है श्रमण महान् ॥५॥

जिससे छूटे संयम जीवन, जो पूर्ण मोह का कहा निदान।
नर नारी का संग तपी तज, कौतुक त्यागी है श्रमण महान् ॥६॥

जो स्वर भौम शुभाशुभ अम्बर, दण्ड स्वप्न वास्तुक का ज्ञान।
अंग विकार जान नभचर स्वर, से न कार्य ले श्रमण महान् ॥७॥

मंत्र-मूल[1] बहु वैद्यक चिन्ता, धूमनेत्र[2] कर वन्ति स्नान।
रोग चिकित्सा आर्त स्मरण तज, चले त्याग पर श्रमण महान् ॥८॥

---

१. मंत्र, मूल-जड़ी-बूटी आदि २. धूम्रपान की नली

क्षत्रिय माहण राजपुत्र गण, उग्र विविध शिल्पी लो जान।
उनकी महिमा ना ख्याति करे, वह त्यागी जानो श्रमण महान् ॥९॥

दीक्षा के पहले या पीछे, देखे या परिचित जो मतिमान।
उनका लौकिक फल पाने हित, जो करे न संस्तव वह मुनिजान ॥१०॥

शयनासन भोजन पान विविध, खादिम-स्वादिम ना करे प्रदान।
दाता मुनि को प्रतिषेध करे, उन पर कुपित न हो वह मुनिजान ॥११॥

जो अशन पान और खाद्य स्वाद्य, यत्किंचित गृही से कर आदान।
उनको त्रियोग आशीष न दे, सवृत योगी लो वह मुनिजान ॥१२॥

आयामक[1] जव ओदन कांजी, यव उदक[2] शीत भोजन लो जान।
नीरस भोजन निन्दा न करे, विचरे लघु कुल में श्रमण महान ॥१३॥

देव मनुज और तिर्यंचोके, विविध शब्द सुनते मतिमान्।
भीम भयकर शब्दों को सुन, डरे नही वह श्रमण महान् ॥१४॥

वाद-बहुल जग जान साधु सह, संयमी शास्त्र का रखता ज्ञान।
प्राज्ञ सहिष्णु वा समदर्शी, उपशान्त शान्त वह श्रमण महान् ॥१५॥

है मुक्त संग गृह मित्र रहित, शिल्पाजीवी वशितेन्द्रिय जान।
मंदकषायी लघ्वाशी[3], गृह त्याग चले वह श्रमण महान् ॥१६॥

★

---

१. ओसापन २. जो का पानी ३. अल्प-आहारी

१६. ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान

आयुष्मन् ! मैंने श्रवण किया, जो वीर प्रभु ने फरमाया।
ब्रह्म समाधि के दश स्थानक, स्थविरों ने ऐसे बतलाया ॥
कर श्रवण मनन उन स्थानों का, संयत संवर सद्गुप्ति सुधर।
हो गुप्तेन्द्रिय और ब्रह्म गुप्त, विचरे शिवपथ आलस तजकर ॥१॥

गणधर ने क्या कहा यहां, उस ब्रह्म भाव के शोधन को।
है कौन स्थान वे दश जग में, जो अन्त करे भव बन्धन को ॥
सुनकर या धारण कर निश्चय, अर्थों का संवरण करे।
अभ्यास-योग से चंचल मन, गोपन कर आत्म-समाधि वरे ॥
इन्द्रिय - गोपन कर विषयों से, निज आत्मभाव में गुप्त रहे।
जो ब्रह्मगुप्तियों से रक्षित, व्रत को रक्खे निज ताप सहे ॥
इस तरह सर्वथा इस जग में, मुनि स्वस्थ भाव को धारण कर।
हर ले काया का सकल क्लेश, हो अप्रमत्त मन विचरण कर ॥२॥

उस ब्रह्मचर्य समाधि के, पद दश स्थविर प्रभु ने कहे।
सुनकर जिन्हें, कर अर्थ निश्चय, भिक्षु संयम में रहे ॥
साधक करे अभ्यास बारम्बार, ब्रह्म समाधि का।
गोपन करे अतियत्न से, तन मन वचन की साधिका ॥
निज इन्द्रियों का प्रिय विषय से, नित्य ही रक्षण करे।
कर दश-सुरक्षा[1] से सुरक्षित, ब्रह्मव्रत पालन करे ॥

---

१. ब्रह्मचर्य समाधि के दस स्थान

इस भाँति मन में हो मुदित, मुनि स्वस्थता धारण करे।
विहरे जगत में शान्ति से, बहु व्याधि का वारण करे॥

करता यहाँ जो नित्य ही, एकान्त शय्यास्थल वसन।
निर्ग्रन्थ वह जो बैठता, निर्दोष आसन कर चयन॥
निर्ग्रन्थ पशु नारी नपुंसक, से सदा हटकर रहे।
इनसे घिरे आसन शयन का, वह नहीं सेवन करे॥

गुरुदेव ! यह क्यों शिष्य ने, पूछा जभी आचार्य से।
आचार्य ने उत्तर दिया निज, शिष्य को अतिचाव से॥
नारी, नपुंसक और पशु से, जो घिरा गृहवास है।
करते न सेवन मुनि उन्हें, रागादि का आवास है॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच सका इससे कहीं, तो रोग या उन्माद है॥

फिर दीर्घ-कालिक रोग या, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत में, केवली के धर्म से॥
अत एव नारी, पशु, नपुंसक, से शयन जो हों घिरे।
निर्ग्रन्थ वैसे वास का, निश्चय नहीं सेवन करे॥१॥

नारी जनों की जो कथा, करता नहीं निर्ग्रन्थ वह।
यह क्यों कहा आचार्य ने, कहते सकल सद्ग्रन्थ यह॥
जो गोष्ठियों में नारियों की, रसमयी करता कथा।
उस ब्रह्मचारी संत को, ऐसी कथा देती व्यथा॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग फिर उन्माद है॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत में, केवली के धर्म से ॥
अतएव नारी की कथा, करना न मुनि का कर्म है।
निज पूर्वजों की नीति पर, चलना यही शुभ धर्म है ॥४॥

जो एक आसन पीठ पर, बैठे न नारी संग में।
निर्ग्रन्थ वह, यह क्यों, कहे आचार्य उक्त प्रसंग में ॥
जो नारियों के संग आसन, एक पर है बैठता।
उस ब्रह्मचारी संत के, मन में दुराशय पैठता ॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा वि संशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग या उन्माद है ॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत में, केवली के धर्म से ॥
अतएव आसन पीठ कुछ भी, बैठने के वास्ते।
बैठे न नारी संग मुनि, निज ब्रह्म रक्षण वास्ते ॥५॥

जो नारियों के मृदु मनोहर, अंग और उपांग को।
अतिशय मनोरम इन्द्रियों के, काम-वर्धक ढंग को ॥
आंखें गड़ा देखे नहीं, सोचे न उस पर कुछ कभी।
है परम उत्तम साधु वह, नमनीय जग कहता सभी ॥

यह क्यों कहा आचार्य ने, जो नारियों के अंग को।
अतिशय मनोरम और मनहर, काम-वर्धक ढंग को ॥
आंखें गड़ा उस रूप को, जो देखने वाले श्रमण।
अथवा सतत प्रिय प्रेयसी का, जो करे चिन्तन मनन ॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग वा उन्माद है॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से॥
अतएव नारी के मनोरम, मृदुल-मनहर - अंग को।
आँखें गड़ा देखें न सोचे, मुनि सतत उस रंग को॥६॥

दीवार मिट्टी की जहाँ, दे ध्यान अन्तर भाग से।
परदे तथा दीवार पक्की के, पहुँच कर पास से॥
सुनता नहीं जो नारियों के, हास्य रोदन गीत है।
कूजन तथा प्रविलाप क्रन्दन, गर्जन तजे वह संत है॥

यह क्यों कहा आचार्य ने, उस मृत्तिका दीवार के।
परदे तथा दीवार पक्की, भीतरी संभाग के॥
जो नारियों के हास-रोदन, गीत क्रन्दन को अहा।
गर्जन तथा कूजन रवों को, सन्त जन सुनते रहा॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका स्वतः लेती है उदय॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग या उन्माद है॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से॥
अतएव मिट्टी भीत या, परदा सुदृढ़ दीवार के।
ब्रह्मचारी ना सुने वे, शब्द चित्त विकार के॥७॥

गृहवास में पहले किए, जो भोग और विलास का।
करता नहीं जो संस्मरण, मन मानकर उपहास का॥
वह साधु है, यह क्यों ? कहा, आचार्य ने प्रिय शिष्य को।
निश्चय श्रमण वह जो न करता, याद मैथुन कर्म को॥

रति और क्रीड़ा का स्मरण, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, का कराता है उदय ॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं तो, रोग या उन्माद है ॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥
अतएव अपने पूर्व गृह-कृत, काम क्रीडा का स्मरण।
करके न ब्रह्म समाधि से, च्युत हों कभी भी संतजन ॥८॥

जो पुष्ट भोजन पान का, सेवन यहाँ करता नहीं।
निर्ग्रन्थ वह, यह क्यों कहा, आचार्य बोले यह सही ॥
जो पुष्ट भोलन पान का, करता सदा सेवन यहाँ।
मन ब्रह्म भावों से विरत उस, व्यक्ति का बनता यहाँ ॥

नित पुष्ट भोजन पान से, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग या उन्माद है ॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से ॥
अतएव मुनि को चाहिए, वह पुष्टिकर आहार का।
सेवन करे ना भूल से, विपरीत मुनि व्यवहार का ॥९॥

परिमाण से बढ़ जो न खाता और पीता है यहाँ।
निर्ग्रन्थ वह, यह क्यों? तुरन्त, गुरुदेव ने उत्तर कहा ॥
परिमाण से बढ़ पान-भोजन, जो यहाँ सेवन करे।
मन ब्रह्म भावों से विरत हों, सत्य पथ विस्मृत करे ॥

फिर अधिक भोजन पान से, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय ॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग फिर उन्माद है॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से॥
अतएव मुनि को चाहिये, अतिपान वा आहार का।
हर्गिज नहीं सेवन करे, विपरीत मुनि व्यवहार का॥१०॥

जो संयमी भूषा न करता, है यहाँ निर्ग्रन्थ वह।
यह क्यों कहा आचार्य ने, है सूत्र का निर्देश यह॥
पड़ गयी आदत जिसे, तन के सजाने की जहाँ।
वैसे सुसज्जित देह पर, आसक्त महिला हों वहाँ॥

फिर नारियों की चाह पर, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती हैं उदय॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग या उन्माद है॥

या दीर्घकालिक रोग या, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से॥
अतएव मुनि को चाहिए वह, तन सुसज्जित ना करे।
निर्दोष सादा वेष धर, मुनि धर्म शोभित करे॥११॥

जो इन्द्रियों के विषय में, आसक्त होते हैं नहीं।
निर्ग्रन्थ वह, यह क्यों, पुनः आचार्य बतलाते सही॥
जो शब्द गन्ध स्पर्श रस, और रूप में आसक्त है।
वह ब्रह्मव्रत से दूर हो, बनता विषय का भक्त है॥

फिर विवश-इन्द्रिय हो रहे, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग या उन्माद है॥

या दीर्घकालिक रोग या, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से॥
अतएव इन्द्रिय विवश जग, होवें न भूले संतजन।
निज ब्रह्मचर्य समाधि का, पालें नियम धर ध्यान मन॥१२॥

श्लोक

जो भवन यहाँ एकान्त शून्य, प्रमदा का जहाँ निवास नहीं।
हैं ब्रह्मचर्य रक्षा हित मुनि, करते उस घर में वास सही॥१॥

मन को प्रसन्न करने वाली, जो काम - राग वर्द्धन वाली।
मुनि ब्रह्मभाव रमने वाला, तज दे नारी विकथा कारली॥२॥

नारी की राग कथा परिचय, दोनों ही ब्रह्म विघातक है।
मुनि नित्य करे इसका वर्जन, जो ब्रह्मचर्य का पालक है॥३॥

आकार अंग प्रत्यंग तथा, वाणी की छटा और चितवन।
ब्रह्मव्रती नारी जन के, अंगों पर दृष्टि करे वर्जन॥४॥

नारी के कूजन हास्य गीत, रोदन गर्जन और आक्रन्दन।
है सुने नहीं इन शब्दों को, जो ब्रह्मचर्य व्रतलीन श्रमण॥५॥

नारी के संग हास दर्प, रति-क्रीड़ा सहसा त्रास सभी।
जो ब्रह्मचर्य में लीन श्रमण, लायें न उन्हें मन ध्यान कभी॥६॥

है अतिपौष्टिक जो भक्तपान, भोगेच्छा शीघ्र बढ़ाते हैं।
ब्रह्मभाव में लीन संत तज, नित्य इन्हें सुख पाते हैं॥७॥

दोष-रहित समयानुकूल, यात्रार्थ सदा भिक्षा लेकर।
हो ब्रह्मचर्य संलीन सदा, खाये न कभी सीमा तजकर॥८॥

ब्रह्मचर्य व्रत - लीन भिक्षु, शोभा का वर्जन नित्य करे।
अपने शरीर का परिमण्डन, शृंगार हेतु ना चित्त धरे ॥९॥

शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श, ये पाँचों काम बढ़ाते हैं।
इन काम गुणों को तजे नित्य, ये राग वृद्धि करवाते हैं ॥१०॥

हो नारी जन से घिरा निलय, और नारी कथा मनोहर हो।
अतिपरिचय हो नारी जन का, मनहर इन्द्रिय का दर्शन हो ॥११॥

कूजन रोदन और गीत हास, परिभुक्त भोग का अनुशीलन।
अति पुष्ट सरस अशनादिक का, अति मात्रा में करना भोजन ॥१२॥

गात्र सजाना इष्ट भोग, कामेच्छा वर्जन दुर्जय है।
आत्म-गवेषी जनहित ये, विष तालपुटवत् क्षयकर है ॥१३॥

दुर्जय काम भोग का वर्जन, नित्य व्रती को करना है।
आशंका के सभी स्थान, ध्यानी को बर्जन करना है ॥१४॥

धर्म बाग में रमण करे मुनि, धर्मसारथी धैर्य धनी।
ब्रह्म समाहित धर्मारामी, विजितेन्द्रिय जो धर्म धनी ॥१५॥

देव असुर गंधर्व यक्ष, राक्षस किन्नर सब नमन करे।
ब्रह्मव्रती साधक जो जग में, दुष्कर व्रत को चित्त धरे ॥१६॥

जिन उपदिष्ट ब्रह्मव्रत शाश्वत, निश्चित और नियत है धर्म।
इससे सिद्ध हुए होते हैं, होंगे और पकड़ यह मर्म ॥१७॥

✱

१७. पाप श्रमणीय

जो विनय युक्त, सुन धर्म, बना, निर्ग्रन्थ बोधिदुर्लभ पाया।
व्रत धारण करके फिर पीछे, स्वच्छन्द श्रमण मन है भाया ॥१॥

स्थिर मिला उपाश्रय रहने को, मिलता प्रिय भोजन वस्त्र हमें।
मैं जान रहा जो है भन्ते ! फिर श्रुत से क्या है लाभ हमें ॥२॥

दीक्षित होकर जो बार-बार, अतिशय निद्रा अपनाता है।
खा पीकर सुख से सो जाता, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥३॥

उपाध्याय आचार्यदेव, सिखलाया जिनने ज्ञान विनय।
वह पाप श्रमण है बोध विकल, जो निन्दा वा करता अविनय ॥४॥

उपाध्याय आचार्य देवकी, जो सेवा भक्ति न कर पाता।
सेवा में सम्यक् श्रम न करे, वह पाप श्रमण है कहलाता ॥५॥

जो बीज हरित लघु जीवों के, प्राणों का मर्दन करता है।
संयमी नाम संयम-विहीन, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥६॥

जो कम्बल चरण पोंछने का, संस्तारक पाट पीठ आसन।
आरोहण करता बिन पूंजे, कहलाता है वह पाप श्रमण ॥७॥

करके प्रमाद जो बार-बार, दब-दब कर भू पर चलता है।
पर प्राणी लांघ चले क्रोधी, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥८॥

प्रतिलेखन करे प्रमाद युक्त, पद-कम्बल रखता जहाँ-तहाँ।
और ध्यान बिना परिलेहन करता, पाप श्रमण वह कहा यहाँ ॥९॥

जो कुछ सुनकर मन शिथिल किए, करता प्रमाद से प्रति-लेखन।
अपमान करे नित गुरुजन का, कहलाता है वह पाप श्रमण ॥१०॥

मायावी वाचाल स्तब्ध, लोभी निग्रह की वृत्ति नहीं।
जो असंविभागी प्रीतिहीन, है पाप श्रमण वह दमी नहीं ॥११॥

जो पाप कर्म में बुद्धि गंवा, उपशान्त कलह भड़काता है।
जो लीन कलह में आग्रह युक्त, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१२॥

अस्थिर आसन चेष्टा वाला, जो जहाँ - तहाँ बैठक करता।
रहता आसन में अनवधान, मुनि पाप श्रमण वह कहलाता ॥१३॥

जो धूल लगे पद सो जाता, शय्या प्रतिलेखन ना करता।
उपयोग शून्य आसन धारी, है पाप श्रमण वह कहलाता ॥१४॥

जो दूध-दही विकृति-भोजन, करता है बारम्बार यहाँ।
रहता है तप से दूर सदा, वह पाप श्रमण प्रख्यात यहाँ ॥१५॥

सूर्य अस्त तक जो भिक्षुक, मन माने भोजन खाता है।
प्रेरित हो प्रत्युपदेश करे, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१६॥

गुरु चरणों की सेवा तज, पाषंड धर्म सेवन करता।
दुश्शील भिक्षु गण बदलू को, श्रुत पाप श्रमण है बतलाता ॥१७॥

जो अपने घर को छोड़ साधु, पर घर में व्यापृत होता है।
करता निमित्त बल का प्रयोग, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१८॥

सामूहिक भिक्षा त्याग यहाँ, निज जाति पिण्ड को खाता है।
बैठे गृहस्थ के आसन पर, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१९॥

ऐसे पाँच कुशील असंवृत, मुनि स्वरूप धर पथ न चले।
इस जग में विषवत् वह गर्हित, है उभयलोक अपकार करे ॥२०॥

वर्जन करता इन दोषों को, वह सुव्रत साधु प्रवर होता।
अमृत सम पूजित इस जग में, इह परभव आराधित बनता ॥२१॥

१८. संयतीय

कांम्पिल्य नगर का भूपति था, सेना वाहन धन जन वाला।
संजय नामा वह पुर बाहर, मृगया हित निकला मतवाला ॥१॥

घोड़े हाथी और रथारूढ़, पैदल कितने चलने वाले।
थे बड़े बड़े सैनिक नृप के, चहुँ ओर घिरे प्रभुता वाले ॥२॥

मृग गण को सैनिक हाँक रहे, काम्पिल्य नगर-केसर वन में।
उन डरे श्रान्त जीवों को नृप, रस लम्पट मार रहा क्षण में ॥३॥

फिर केसर नामा उपवन में, अनगार तपस्वी ज्ञानघनी।
स्वाध्याय ध्यान साधना युक्त, और धर्म ध्यान में लीन गुणी ॥४॥

थे कर्म हेतु के उच्छेदक, मुनि लता कुंज में ध्यान निरत।
उनके शरणागत मृग गण को, राजा ने किया बाण आहत ॥५॥

वह अश्वारोही भूप शीघ्र, आकर उस मृग के पास गया।
और मरा हुआ मृग को देखा, फिर खड़े श्रमण पर ध्यान गया ॥६॥

मुनि देख वहाँ नृप भीत हुआ, सोचा मैं कितना भाग्यहीन।
रस-लोलुप घातकता वश हो, मुनि को पीड़ा दी मति विहीन ॥७॥

तुरग छोड़ कर शीघ्र भूप, मुनि चरण लगा करने वन्दन।
विनय सहित बोला मुनि से, अपराध क्षमा कर दो भगवन ॥८॥

वे ध्यानलीन वे परम तपी, अनगार मौनव्रत के धारी।
राजा को उत्तर दिया नहीं, भय विकल हुआ राजा भारी ॥९॥

मैं हूँ संजय मुनि मौन त्याग, मुझसे कुछ भी तो बात करें।
हो कुपित श्रमण निज तेजों से, क्रोड़ों मानव का दहन करें ॥१०॥

पार्थिव ![1] करता हूँ अभय तुम्हें, अभयप्रदाता बन जाओ।
क्षणभंगुर संसार बीच क्यों, हिंसा में मन-रस लाओ ॥११॥

जब सभी छोड़कर के निश्चय, परवश हो तुमको जाना है।
फिर क्यों नश्वर इस जीव लोक में, राज्य भोग मन लाना है ॥१२॥

जीवन और यह रूप तेरा, है चपला सम होता चंचल।
राजन्! जिस पर तू मोहित हो, पर भव हित सोचे ना क्षण पल ॥१३॥

नारी सुत वा बन्धु सखा, जीवित जन के साथी होते।
मर जाने वालों के पीछे, वे कभी न संगी हो जाते ॥१४॥

परम दुःखी हो मृतक पिता को, घर बाहर सुत ले जाते।
ऐसे ही पिता बन्धु सुत को, राजन्! तप क्यों ना अपनाते ॥१५॥

मृत जन के द्वारा अर्जित धन, और रक्षित रूपवती नारी।
उपभोग अन्य करते उनसे, हो हृष्ट तुष्ट भूषणधारी ॥१६॥

उसने भी जैसे कर्म किए, सुखकारी अथवा दुःखकारी।
बस उसी कर्म को संग लिए, पर भव जाते वे नरनारी ॥१७॥

उस मुनिवर के सुन धर्म-वचन, नृप संजय के मन बोध हुआ।
जगा तीव्र संवेगभाव, विषयों से मन वैराग्य हुआ ॥१८॥

---

१. राजन्!

संजय ने अपना राज्य छोड़, जिन शासन में निष्क्रमण किया।
गर्दभालि मुनिवर चरणों में, संयमव्रत स्वीकार किया ॥१९॥

राष्ट्र छोड़ दीक्षित क्षत्रिय, मुनि संजय से यों बात कहे।
जैसा सुघड़ रूप तेरा, वैसा प्रसन्न मन दीप्त रहे ॥२०॥

क्या नाम और क्या गोत्र कहो, किसलिए बने हो श्रमण व्रती।
कैसे करते गुरु की सेवा, कैसे विनीत कहती जगती ॥२१॥

संजय प्रसिद्ध है नाम तथा, गौतम विख्यात गोत्र मेरा।
विद्या-चरण प्रवीण धर्म गुरु, गर्दभालि का मैं चेला ॥२२॥

हैं धर्म क्षेत्र के चार वाद, अक्रिया विनय अज्ञानक्रिया।
है क्रियावाद इन चारों में, ज्ञानी ने किस को मान्य किया ॥२३॥

इन वादों का कथन किया, तत्वज्ञ ज्ञातृसुत निर्वृत ने।
ज्ञान चरण सम्पन्न सत्यवर, सत्य पराक्रमवाले ने ॥२४॥

जो पाप कर्म करने वाले, वे घोर नरक में जाते हैं।
निर्दोष धर्म पथ पर चलकर, कई दिव्य धाम को पाते हैं ॥२५॥

एकान्तदृष्टि यह झूठ तथा, माया से पूर्ण निरर्थक है।
इन पर संयम रख चलता हूँ, रहता हूँ जीवन सार्थक है ॥२६॥

उन अनार्य मिथ्यात्वदृष्टि, सबको मैंने है जान लिया।
परभव की सत्ता में हमने, सम्यक् आत्मा है मान लिया ॥२७॥

था महाप्राण[1] में द्युतिधर मैं, सुरवर्षशतोपम तनुवाला[2]।
जो पल्य और सागर आयु, देवी हायन शत स्थिति वाला ॥२८॥

---

१. देवविमान २. देवभव सम्बन्धी पूर्ण आयु

ब्रह्मलोक से च्युत होकर, मैं मानुष भव में आया हूँ।
अपनी पर की है आयु यथा, बस उसे ज्ञात कर पाया हूँ ॥२९॥

नाना मत के भाव और रुचि, मुनि को वर्जन करना है।
हिंसादि अनर्थक जान दोष, सत्ज्ञान मार्ग पर चलना है ॥३०॥

हो दूर प्रश्न वा गृह कार्यों से, दिन रात सत्य का ध्यान करे।
आश्चर्यजनक तत्परता है, यह समझ ज्ञान तप में विचरे ॥३१॥

जो मुझे पूछते अवसर पर, सम्यक् निर्मल मन से बुध जन।
वह प्रगट किया है ज्ञानी ने, है ज्ञान वीर जिनके शासन ॥३२॥

धीर क्रिया पर रुचि रक्खे, अक्रियावाद को दूर करे।
सम्यग्दर्शन से दृष्टि शुद्ध, कर दुष्कर धर्माचरण करे ॥३३॥

सुन अर्थ धर्म से उपशोभित, उपदेश पुण्य-पद मुनिवर का।
तज काम भोग और भारत को, भरतेश्वर पथिक बने शिव का ॥३४॥

सगर भूप ने सागरान्त, भारत का वैभव छोड़ दिया।
ऐश्वर्य - त्याग संयम लेकर, निजकर्म काट भव पार लिया ॥३५॥

महा ऋद्धिशाली चक्री, था मघवा महाकीर्तिधारी।
तज राज्य विभव इस भारत का, हो गया स्वतः दीक्षाधारी ॥३६॥

सनत्कुमार नरपति चक्री, जो रूप सम्पदा का धारी।
सुत का करके राज्याभिषेक, उसने तपधारा हितकारी ॥३७॥

भारत का राज्य छोड़ चक्री, वे शान्तिनाथ साताकारी।
महा ऋद्धितज ले संयम, हो गये सिद्धि पद अधिकारी ॥३८॥

इक्ष्वाकुवंश का श्रेष्ठ नृपति, था कुन्थू विशद कीर्तिवाला।
उस धैर्यशील ने तप कठोर, कर मोक्ष हस्तगत कर डाला ॥३९॥

सागरान्त भूभाग भरत, अरनाथ नरेश्वर ने छोड़ा।
कर कर्म धूलि को दूर पूर्ण, निर्वाण धाम में मन जोड़ा ॥४०॥

चक्री महापद्म भूपति ने, भारत का राज्य विभव छोड़ा।
उत्तम भोगों को तज दुष्कर, तप से मन का नाता जोड़ा ॥४१॥

अरिमान दमन करने वाले, हरिषेण नृपतिवर कभी यहाँ।
वसुधा का एकछत्र शासन, तज गये सुपद निर्वाण जहाँ ॥४२॥

नृप सहस्रा के संग राज्य, जय चक्री ने जब छोड़ दिया।
जिन भाषित दम का सेवन कर, निर्वाण धाम को प्राप्त किया ॥४३॥

सुरपति से प्रेरित नृपदशार्ण, ने मुदित राज्य वैभव छोड़ा।
कर ग्रहण प्रव्रज्या मुनिव्रत में, दृढ़ साहस से जन को जोड़ा ॥४४॥

नमि ने आत्मा को नमालिया, व्रत में सुरपति से बल पाया।
तज राजभवन को वैदेही, श्रामण्य भाव मन थिर लाया ॥४५॥

नृप था कलिंग का करकण्डक, पाँचाल देश में द्विमुख कड़ा।
गान्धार देश का नृप नग्गति, नमिथा विदेह का भूप बड़ा ॥४६॥

भूपों में ये श्रेष्ठ भूप, जिन शासन में निष्क्रान्त हुए।
पुत्रों को देकर राज्यभार, श्रामण्य भाव दृढ़ चित्त हुए ॥४७॥

सौवीर राज राजाओं में, था वृषभ तुल्य नृप उद्दायण।
तज राज्य प्रव्रज्या ले मुनि बन, कर लिया प्राप्त निर्वाण सदन ॥४८॥

वैसे ही काशी के राजा, कल्याण सत्यहित बलवाले।
परित्याग विषय भोगों का कर, उच्छेद कर्म बनकर डाले ॥४९॥

नृप विजय समृद्ध संपतशाली, प्रख्यात कीर्ति अतियश वाले।
सर्वार्थ युक्त निज राज्य छोड़, जिन दीक्षा माल्य गले डाले ॥५०॥

वैसे राजर्षि महाबल ने, आकुलता हीन हृदय होकर।
कर उग्र तपस्या शिर देकर, पा लिया मोक्ष साधक बनकर ॥५१॥

ये शूरधीर दृढ़बली भूप, जिन शासन में सब कुछ पाकर।
प्रव्रजित हुए, क्यों हेतु बिना, बन मत्त धीर विचरे भूपर ॥५२॥

अतियुक्तियुक्त प्रवचन मैंने, ये कहे सत्य जग सुखदायी।
तिर गये तिरे कइ पाएँगे, भव पार करें जो मन लायी ॥५३॥

कैसे कुहेतु को लेकर के, धृतिमान् लगाये अपना बल।
जो सब संगों से मुक्त यहाँ, वह कर्म रहित होता निर्मल ॥५४॥

★

१९. मृगापुत्रीय

उद्यान और कानन शोभित, था रम्य एक सुग्रीव नगर।
बलभद्र वहाँ का राजा था, पटरानी मृगा परम सुन्दर ॥१॥

उन दोनों का पुत्र बालश्री, मृगापुत्र यों विश्रुत था।
जो अम्ब तात का अति प्यारा, युवराज दमीश्वर प्रियव्रत था ॥२॥

नन्दन सम अतिरम्य भवन में, नारी संग क्रीड़ा करता था।
सुर दोगुन्दक के तुल्य सदा, वह प्रमुदित मन से रहता था ॥३॥

मणि रत्न जड़ित अंगन वाले, उस रम्य-सौध वातायन में।
बैठा पुर के चौराहों त्रिक, चत्वर को देख रहा धुन में ॥४॥

तप नियम और संयमधारी, भरपूर शील गुण का आकर।
देखा उसने पथ पर जाते, अति क्षमाशील संयत मुनिवर ॥५॥

एक दृष्टि से देख साधु को, मृगापुत्र मन ध्यान दिया।
देखा था ऐसा रूप कहीं, चिन्तन से पर्दा दूर किया ॥६॥

उसको संयति के दर्शन से, शुभ भाव चित्त में उदय हुए।
हो मोह कर्म के उपशम से, गतिपूर्व-जन्म के स्मरण हुए॥
देवलोक से च्युत होकर, इस मानुष भव में वह आया।
समनस्क ज्ञान के होने पर, प्राचीन जन्म की स्मृति पाया ॥७॥

जातिस्मरण ज्ञान पाकर, अति ऋद्धिमान रानी सुत को।
हो गया पुरातन भव परिचय, आचरण किया जो मुनिव्रत को ॥८॥

हो गया विमुख वह भोगों से, संयम में मन अनुरक्त रहा।
आकर के जननी जनक पास, उसने यों अपना भाव कहा ॥९॥

मैंने सुना है महाव्रत पाँचों, नरक और तिर्यक् के दु:ख।
मात ! अनुज्ञा दें दीक्षा की, भव दु:ख से मैं हुआ विमुख ॥१०॥

अम्ब तात ! मैंने भोगे, विषफल सम मीठे भोगों को।
परिणाम कटुक अति दुखदायी, आकर्षक लगते लोगों को ॥११॥

यह अस्थि चर्ममय तन नश्वर, मल युक्त अशुचि से पिण्ड बना।
अस्थिर आवास समझ इसको, यह दुख क्लेशों से पूर्ण सना ॥१२॥

इस अनित्य तन में मैंने, रति भाव नहीं उपलब्ध किया।
पहले वा पीछे त्याग योग्य, जल बुद्बुद् सम अस्तित्व लिया ॥१३॥

मानुष का तन है सारहीन, जो व्याधि और रोगों का घर।
जरा मरण से ग्रस्त विश्व में, रमण करूँ मैं ना क्षण भर ॥१४॥

है जन्म दु:ख और जरा दु:ख, जग व्याधिमरण के दु:खभारी।
पाते हैं प्राणी जहां कष्ट, संसार अहो ! अतिभय कारी ॥१५॥

भूमि, गेह, सोना, नारी, बान्धव, सुत एवं सुन्दर तन।
परवश हो सब तज जाना है, रुकना न एक भी है पल क्षण ॥१६॥

जैसे ही किम्पाकफलों का, परिणाम नहीं सुन्दर होता।
वैसे इन भोगे भोगों का, परिणाम नहीं हितकर होता ॥१७॥

जो बड़े मार्ग पर प्रस्थित हो, कुछ सम्बल साथ नहीं लेता।
हो भूख प्यास से पीड़ित वह, पथ चलते अतिचिन्तित होता ॥१८॥

यों धर्म किए बिन जो प्राणी, जग से पर भव को जाते हैं।
हो व्याधि रोग से वह पीड़ित, पथ चलते दुःख उठाते हैं ॥१९॥

जो बड़े मार्ग पर प्रस्थित हो, कुछ सम्बल पथ में ले जाता।
हो भूख प्यास से,वर्जित वह, चलते पथ में अति सुख पाता ॥२०॥

ऐसे ही धर्माराधन कर, जो जग से परभव जाता है।
वेदना रहित वह लघुकर्मी, चलते पथ अतिसुख पाता है ॥२१॥

जैसे आग लगे घर में, उस घर का जो स्वामी होता।
घर में ही छोड़ असार वस्तु, है सार वस्तु बाहर लेता ॥२२॥

जरा-मरण की प्रबल आग से, जलता ऐसे हैं जग सारा।
अपने को पार लगाऊँगा, आदेश आपका ले प्यारा ॥२३॥

मात पिता बोले उसको, प्रिय तनय श्रमण पद है दुस्तर।
गुण हजार धारण करते, भिक्षुक के होते हैं दुष्कर ॥२४॥

शत्रु-मित्र सब जीवों में, जगती पर समताभाव रहे।
आजीवन का व्रत दुष्कर हैं, प्राणातिपात से दूर रहे ॥२५॥

अप्रमत्त रह सदा काल, मिथ्याभाषण वर्जन करना।
बड़ा कठिन है सावधान मन, हित प्रिय सत्य सतत कहना ॥२६॥

बिना दिए दातोन आदि भी, ग्रहण व्रती को ना करना।
दिया हुआ भी एषणीय, निर्दोष वस्तु दुष्कर लेना ॥२७॥

काम भोग रस के ज्ञाता को, हैं कुशील का त्याग कठिन।
उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य को, धारण करना है महा कठिन ॥२८॥

धन धान्य तथा सेवक जन में ममता का परिवर्जन करना।
बड़ा कठिन आरम्भ परिग्रह की, ममता मन से हरना ॥२९॥

आहार चतुर्विध रजनी में, भोजन का वर्जन करना है।
सन्निधि के संचय का वर्जन, अतिकठिन साधु व्रत धरना है ॥३०॥

भूख प्यास सर्दी गर्मी, और दंशमशक का कष्ट सहन।
दुःखद शय्या आक्रोश वचन, तृणफास और मलधारण तन ॥३१॥

ताडन तर्जन वा वध बन्धन, हैं विविध परीषह मुनि मग में।
याचना अलाभ का कष्ट छुपा, सहना होता भिक्षा जग में ॥३२॥

है कपोत - सी वृत्ति और, अति दारुण दुखद शिरोलुंचन।
है ब्रह्मचर्य सद् आत्मा का, धारण करते विरले सज्जन ॥३३॥

हे पुत्र! योग्य सुख के तुम हो, सुकुमार सुमार्जित बचपन से।
निश्चय समर्थ तुम नहीं अहो, मुनिपद पालन करने जैसे ॥३४॥

है संयम गुण का भार महा, विश्राम नहीं है आजीवन।
यह लोहभार सम गुरुतर है, जिसका ढोना है महाकठिन ॥३५॥

नभ गंगा के स्रोत तुल्य, प्रति स्रोत गमन जैसे दुस्तर।
भुज युग[1] से सागर तिरने सम, है पार गुणोदधि का दुस्तर ॥३६॥

संयम है रेत-कवल जैसे, निस्वाद और रसहीन यहाँ।
असिधारा पर चलने सम है, तप साधन करना कठिन महा ॥३७॥

एकाग्रदृष्टि से सर्पतुल्य, मुनिव्रत का पालन महाकठिन।
लोहे के जौ चर्वण[2] जैसा, चारित्र पालना बहुत कठिन ॥३८॥

जैसे जलती अग्नि शिखा को, पीना होता अति दुष्कर है।
वैसे यौवन में श्रमणधर्म, पालन उससे भी दुस्तर है ॥३९॥

---

१. दो भुजाओं से २. जौ चबाने जैसा

जैसे कपड़े के थैले को, है अनिल पूर्ण[1] करना दुष्कर।
वैसे ही सत्व रहित जन से, मुनिव्रत का पालन है दुस्तर ॥४०॥

जैसे मन्दर गिरवर को, है तुला चढ़ा तोलन दुष्कर।
वैसे निश्चल निर्भय मन से, मुनिव्रत पालन है अति दुस्तर ॥४१॥

जैसे युगल भुजाओं से, सागर का पार महादुष्कर।
उपशम विहीन नरको वैसे, दम-सिन्धु पार करना दुस्तर ॥४२॥

शब्दादि पाँच विध भोगों को, तुम भोग मनुज भव सफल करो।
हे पुत्र ! भुक्तभोगी होकर, फिर श्रमण धर्म आचरण करो ॥४३॥

यह सुनकर मृगापुत्र बोला, हे तात ! आपका सत्य वचन।
विषयों की प्यास नहीं जिसको, उसको मुश्किल है क्या पालन ॥४४॥

तन मन की दुस्सह पीड़ा को, हमने है बार अनन्त सही।
शत विध-दुःख भी बारबार, पीड़ित हमको हैं किये यहीं ॥४५॥

चार अन्त वाले भय-आकर, जरा मरण के कानन में।
जन्म मरण दुःख सहे भयंकर, इस जगती के आँगन में ॥४६॥

जैसे पावक है उष्ण यहाँ, उससे अनन्तगुण उष्ण वहाँ।
है सही नरक में उष्ण वेदना, दुखदायी अतिकष्ट जहाँ ॥४७॥

जैसे यह सर्दी यहाँ बहुत, इससे अनन्तगुण शीत वहाँ।
हूँ सहा वेदना नरकों में, है शीत व्यथा अति कठिन जहाँ ॥४८॥

पाक-पात्र[2] में क्रदन्न करता, पद ऊँचा सिर नीचा कर।
अमित वार मैं गया पकाया, जलते हुए हुताशन[3] पर ॥४९॥

---

१. हवा से भरना　　२. कुंभी पात्र　　३. अग्नि

महा दवानल तीव्र-ज्वाल में, मरु की वज्र-बालुका[1] पर।
अमितबार मैं गया जलाया, सरित्-कदम्ब[2] की रेती पर ॥५०॥

रोता बन्धु हीन कुम्भी में, बांधा था ऊपर लटका कर।
काटा गया अमित बार मैं, करवत या आरा में देकर ॥५१॥

अत्यन्त तीक्ष्ण काँटों वाले, सीमल के ऊँचे तरु ऊपर।
क्षेपित हुआ पाश में बंधकर, खींचे जाने से इधर-उधर ॥५२॥

महायन्त्र में इक्षु सदृश, निज कर्मों से पीला जाकर।
हैं दारुण शब्द किये मैंने, बहुवार पाप का संचय कर ॥५३॥

काले शबल श्वान सूकर से, क्रन्दन करता मैं इधर उधर।
काटा फाड़ा और गिराया, गया बहुत ही इस भूपर ॥५४॥

अलसी रंग समान भल्ल, लोहकदण्डों तलवारों से।
हुआ प्रखण्डित छिन्न-भिन्न, मैं पाप कर्म के भारों से ॥५५॥

ज्वालायुक्त कील वाले, अयरथ[3] में विवश बना जोड़ा।
रोझ सदृश चाबुक कीलों से, हाँक गिरा तन को तोड़ा ॥५६॥

गया जलाया और पकाया, ज्वलित चितानल में देकर।
परवश ढंका पाप कर्मों से, भैंसे सम मैं दुख में पड़कर ॥५७॥

संदंश तुण्ड और लोह तुण्ड, में ढँक गृध्र पक्षीगण से।
बहुधा बलपूर्वक रुदन सहित, नोचा जाता था मैं उनसे ॥५८॥

मैं वैतरणी के तट पहुँचा, दौड़ा अति प्यास विकल होकर।
सोचा था, जल पीऊँगा, पर छुरिका से चीरा था धर कर ॥५९॥

---

१. वज्र के समान कंकरीली कर्कशरेत २. नदी के तट की तप्त रेत
३. लोहे के रथ में

अति तप्त हुआ मैं गर्मी से, असिपत्र महावन में आया।
तन पर गिरते असि पत्रों से, छिद गया कष्ट बहुधा पाया ॥६०॥

मुद्गर मुसल मुसुण्ढि शूल से, चूर हुआ यह तन मेरा।
जो आशा टूटे अंगों से, अमित बार दुःख आ घेरा ॥६१॥

मैं तीक्ष्ण धार वाली कैंची, छुरिका और तेज छुरे जैसे।
खण्डित पाटित उत्कीर्ण छिन्न, मैं हुआ बहुत उन अस्त्रों से ॥६२॥

कूट जाल और पाशों से, मृग तुल्य वहाँ पर-वश होकर।
मैं बहुत बार बांधा रोका, वा ठगा मार खाया तन पर ॥६३॥

कांटों और मगर जालों से, मच्छ सदृश परवश होकर।
गया बहुत खींचा फाड़ा, पकड़ा मारा उसमें जाकर ॥६४॥

बाज जाल अवलेपों से, खग तुल्य अनन्तीवार वहाँ।
पकड़ा चिपकाया बद्ध हुआ, एवं मारा भी गया जहां ॥६५॥

जैसे वृक्ष वार्द्धिक के कर से, फरसा कुठार आदिक द्वारा।
कूटा छीला दो टूक छेद, त्रक्षण पाया तन अति मेरा ॥६६॥

लोहे की भाँति लुहारों से, मुट्ठी चपेट आदिक द्वारा।
मैं बहुत बार पीटा कूटा, भेदा तन चूर्ण किया सारा ॥६७॥

तांबा लोहा रांगा सीसा, कलकल रव करता पिघलाकर।
था गया पिलाया बहुत मुझे, करते क्रन्दन भैरव अविकल ॥६८॥

था मांस खण्ड तुम को प्यारा, शूलारोपित कर खाता था।
यों याद दिला निज मांस अग्नि, सम लाल खिलाया जाता था ॥६९॥

सुरा, सीधु, मेरक, मदिरा, और मधु से प्रीति रही तुमको।
यों याद दिला जलती चर्बी, और रक्त पिलाया था मुझको ॥७०॥

सदा भीत संत्रस्त दुःखित, और व्यथित रूप होकर हमने।
परम दुःखमय तीव्र व्यथा, का अनुभव किया बहुत हमने ॥७१॥

तीव्र चण्ड अति दुसह भयद, जो घोर प्रगाढ़ व्यथा भारी।
नरक लोक में तीव्र व्यथा के, अनुभव की आयी थी बारी ॥७२॥

हे तात ! मनुज के इस भव में, जो व्यथा दिखाई देती है।
इससे अनन्त-गुण बढ़ी व्यथा, नरकों में पायी जाती है ॥७३॥

अनुभव किया सभी जन्मों में, मैंने अतिशायी दुःख व्यथा।
अन्तर निमेष का भी न मिला, हो साता जिसमें नहीं व्यथा ॥७४॥

फिर मात-पिता ने कहा पुत्र !, इच्छानुसार मुनि बन जाना।
पर नहीं चिकित्सा मुनि-मग में, तू इसे ध्यान में ले जाना ॥७५॥

उसने कहा तात ! ऐसा हो, कहा आपने जो हमको।
वन में कौन चिकित्सा करता, पीड़ित मृग पक्षी के तन में ॥७६॥

वन में जैसे हिरण अकेला, स्वच्छन्द विचरता रहता है।
ऐसे संयम तप से युत मैं, भी करुँ धर्म मन कहता है ॥७७॥

जैसे किसी महावन में, मृग को आतंक उदय लेता।
रहे वृक्ष के मूल वहाँ, उसका उपचार कौन करता ॥७८॥

देता है उसको कौन दवा, और कौन पूछता सुख की बात।
कौन उसे खाने पीने को, देता लाकर पानी भात ॥७९॥

जब होता है स्वस्थ हिरण, गोचर को तब वह आता है।
खाने पीने हित लता कुञ्ज, और जल तट पर वह आता है ॥८०॥

लताकुञ्ज और जलाशयों पर, खा पीकर मोद मानता है।
मृग की चर्या से चलकर के, एकान्त शान्तिपथ जाता है ॥८१॥

ऐसे ही उठकर संयम में, भिक्षुक अनियतचारी होकर।
संचार ऊर्ध्वगति करता है, मृग के समान चर्या चलकर ॥८२॥

जैसे मृग एक अनेक स्थान, रहता लेता जल तृण-गोचर।
अनियतचारी मुनि गोचरगत, निन्दा खिसा न करे तिलभर ॥८३॥

मैं मृगचर्या से विचरूँगा, ऐसा हो पुत्र ! यथा सुख कर।
मात पिता से अनुज्ञात फिर, चले उपधि का वर्जन कर ॥८४॥

सब दुःख को क्षय करने वाली, पालूँगा मैं मृगचर्या को।
अम्ब ! तुम्हारी अनुमति हो, जा पुत्र ! यथा सुख शिव पथ को ॥८५॥

ऐसे मात पिता को उसने, विध-विध कहके अनुकूल किया।
ममता का बन्धन छेदन कर, अहि सम कंचुक को त्याग दिया ॥८६॥

धनधान्य ऋद्धि और मित्रों को, सुत दारा एवं बान्धव को।
वस्त्र लगे रज के समान, झटका कर दूर किये सबको ॥८७॥

पंच महाव्रत पांच समिति, और तीन गुप्ति से युत होकर।
अन्तर बाहर तपचर्या में, वे हुए उग्र तत्पर बनकर ॥८८॥

ममता और अहंता तजकर, जो संग रहित गौरव त्यागी।
त्रस स्थावर सकल जीवगण पर, जिसके मन में समता जागी ॥८९॥

लाभ-अलाभ तथा दुःख सुख, जो जीवन और मरण में सम।
सम निन्दा और प्रशंसा में, सम्मान निरादर में हो सम ॥९०॥

दण्ड शल्य गौरव कषाय, भय हास्य शोक से निवृत्त हो।
फल की इच्छा और बन्ध रहित, निश दिन रखता निर्मल मन जो ॥९१॥

प्रतिबन्ध न इह परभव में हो, इच्छा से जीवन दूर रहे।
काटे या चन्दन लेप करे, अनशन होवे या अशन रहे ॥९२॥

अशुभ कर्मों के द्वारों का, सब ओर मार्ग अवरोध करें।
अध्यात्म ध्यान के योगों से, शुभ संयम शासन में विचरें ॥९३॥

ऐसे सम्यग् ज्ञान-चरण से, दर्शन और तपस्या कर।
अतिशय शुद्ध भावना भावित, सम्यक् आत्मा को उज्ज्वल कर ॥९४॥

बहुत वर्ष तक श्रमण धर्म का, शुद्ध भाव से पालन कर।
श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त किया, वह मासभक्त का अनशन कर ॥९५॥

सम्बुद्ध विज्ञ ऐसा करते, जो धर्म विचक्षण होते हैं।
मृगापुत्र ऋषिवर सम जो, भोगों से उन्मुख होते हैं ॥९६॥

महा प्रभावी महायशस्वी, मृगापुत्र का चरित कथन।
तपः प्रधान श्रेष्ठ गतिवाला, लोक विदित सुन शुभ वर्णन ॥९७॥

जान जगत् में दुखवर्द्धक धन, अति भयप्रद ममता बन्धन।
सुखकर मोक्ष प्रदायक उत्तम, धर्म धुराधर लेना मन ॥९८॥

★

२०. महानिर्ग्रन्थीय

सिद्ध और संयत आत्मा को, भावपूर्ण मैं करूँ नमन।
अर्थ धर्म बोधक अनुशासन, तथ्य सुनो जो करूँ कथन ॥१॥

प्रचुररत्न मगधाधिप श्रेणिक, मण्डिकुक्षि नामा उद्यान।
यात्रा विहार को निकला था, समयोचित लेकर सामान ॥२॥

नाना लता और विटपों से, खगकुल सेवित था वह उपवन।
नाना सुमनों से आच्छादित, लगता जैसे हो नन्दनवन ॥३॥

संयमयुक्त साधु को देखा, वह सुकुमार सुखोचित था।
बैठा तरु के मूल समाहित, ध्यानमग्न व्रतधारक था ॥४॥

उस संयत का रूप सुघड़ अति, देख भूप आकृष्ट हुआ।
अतुल और अतिविस्मयकारक, त्याग देखकर चकित हुआ ॥५॥

अद्‌भुतवर्ण रूप भी अद्‌भुत, तथा आर्य का सौम्य स्वरूप।
कैसी क्षमा ! मुक्ति अद्‌भुत, निस्संग भोग में मन प्रतिरूप ॥६॥

उसके चरणों में वन्दन कर, मुनि को प्रदक्षिण विधि करके।
अति दूर नहीं और नही निकट, प्रांजलि बोला नृप मनधर के ॥७॥

हे आर्य ! तरुण हो, क्यों दीक्षित, संयत ! भोगों का काल यही।
श्रामण्य धर्म में आए हो, कारण बतलाओ हमें सही ॥८॥

मैं हूँ राजन ! जग में अनाथ, है नाथ नहीं कोई मेरा।
ऐसा न किसी को पाता हूँ, अनुकम्पक हो या मित्र मेरा ॥९॥

यों सुन वह मगधाधिप श्रेणिक, प्रहसित मुख उस मुनि से बोला।
तुम जैसे ऋद्धियुक्त नर को, है नाथ कहो कैसे न मिला ॥१०॥

होता हूँ नाथ तुम्हारा मैं, संयत भोगों का भोग करो।
हो मित्र ज्ञाति जन से परिवृत, दुर्लभ नर भव को सफल करो ॥११॥

हे मगधाधिप ! श्रेणिक तुम तो, अपने भी पूरे नाथ नहीं।
जो स्वयं अनाथ वह हो कैसे, पर का जगत में नाथ सही ॥१२॥

नरपति पहले से विस्मित था, संभ्रान्त हुआ फिर यों सुनकर।
मुनिवर के अश्रुत पूर्व वचन से, प्रेरित वह बोला विस्मय भर ॥१३॥

हैं हाथी घोड़े नर मेरे, अन्तःपुर एवं नगर बड़ा।
मैं भोग रहा नर भोगों को, आज्ञा में पुरजन सभी खड़ा ॥१४॥

सब काम भोग मिलते जिससे, वैसी सम्पत्ति जहाँ पर हो।
कैसे अनाथ वह कहलाये, मुनिवर असत्य मत हमें कहो ॥१५॥

तू नहीं जानता है अनाथ, और, नाथ शब्द का अर्थ कहा।
जैसा अनाथ होता राजन्, एवं सनाथ का अर्थ यहाँ ॥१६॥

एक चित्त से सुनो भूप, तजकर मन से वैभव का मद।
जैसे अनाथ जग होता है, कैसे मैं बोल गया वह पद ॥१७॥

प्राचीन नगर को शर्माती, कौशाम्बी नामा है नगरी।
रहते थे वहाँ पिता मेरे, जिनकी संपद है गांठभरी ॥१८॥

यौवनवय मेरी आंखों में, हो गई वेदना अतुल वहाँ।
हो गया अंग प्रत्यंगों में, विस्तीर्ण दाह तन व्यथित जहाँ ॥१९॥

जैसे कोई कुपित शत्रु, अति तीक्ष्णशस्त्र तन छेदों में।
देकर पीड़ा उत्पन्न करे, वैसी पीड़ा मुझ नयनों में ॥२०॥

मेरे कटि मस्तक और हृदय, वेदना व्यथित होते उस क्षण।
इन्द्रवज्र आघाततुल्य, पीड़ा होती थी अतिदारुण ॥२१॥

विद्या मन्त्र चिकित्सा के, आचार्य पास मेरे आए।
थे अद्वितीय वे शास्त्र कुशल, और मंत्र मूल में यश पाए ॥२२॥

वे करें चिकित्सा चतुष्पाद[1], जिससे न स्वास्थ्य में हो देरी।
पर दुःख-मुक्त कर सके नहीं, बस है अनाथता यह मेरी ॥२३॥

बहुमूल्य वस्तुएँ मेरे हित, देने में तात न की देरी।
पर दुःख मुक्त वे कर न सके, बस यही अनाथता है मेरी ॥२४॥

पुत्र शोक से थी दुःखार्त, हे महाराज ! माता मेरी।
पर दुःख मुक्त वह कर न सकी, बस यही अनाथता है मेरी ॥२५॥

छोटे बड़े सगे भाई, कुछ कर न सके रक्षा मेरी।
वे मिटा न पाये दुख मेरा, बस यही अनाथता है मेरी ॥२६॥

छोटी बड़ी सगी बहनें, कुछ कर न सकीं रक्षा मेरी।
वे हटा न पायीं दुख मेरा, बस यही अनाथता है मेरी ॥२७॥

हे महाराज ! मुझसे प्रसन्न, प्रिय पतिव्रता पत्नी मेरी।
निज अश्रु पूर्ण नयनों से थी, वे भिगा रही छाती मेरी ॥२८॥

अशन पान या स्नान गन्ध, और माल्य विलेपन आदि सभी।
मेरे जाने या अनजाने, बाला ने भोग न किया कभी ॥२९॥

---

१. वैद्य, रोगी, औषध एवं परिचारक रूप चार प्रकार की चिकित्सा

हे महाराज ! उस बाला ने, ना की मुझसे क्षण भी दूरी ।
फिर भी न व्यथा कर सकी दूर, बस यही अनाथता है मेरी ॥३०॥

तब हार कहा मैंने ऐसे, जगती में दुस्सह बार-बार ।
इस परम वेदना का अनुभव, करना पड़ता है अमित वार ॥३१॥

विपुल वेदना से हो जाऊँ, यदि एक वार मैं मुक्त यहाँ ।
तो क्षान्त दान्त और निरारंभ, मुनि पद कर लूँ स्वीकार यहाँ ॥३२॥

हे राजन् ! ऐसा चिन्तन कर, सो गया शान्ति धारण करके ।
बीती रात्रि मिट गयी व्यथा, क्षण पल में मुझको तज करके ॥३३॥

हो स्वस्थ सबेरे पूछ बन्धु, प्रव्रजित हुआ मैं छोड़ सभी ।
बन शान्त दान्त और निरारंभ, मुनिमार्ग पकड़कर चला तभी ॥३४॥

तब ही से मैं नाथ हुआ हूँ, अपना और परायों का ।
त्रस एवं स्थावर प्राणी का, जगती भर के सब जीवों का ॥३५॥

आत्मा है सरिता वैतरनी, है कूटशाल्मली आत्मा ही ।
आत्मा मेरी है कामधेनु, नन्दन कानन भी बनी रही ॥३६॥

दुःख सुख का कर्ता आत्मा है, एवं उनका क्षयकर्ता है ।
विपरीत मार्ग रत-शत्रु और, शुभ कार्य लग्न सुखकर्ता है ॥३७॥

यह और अनाथता है राजन्, एकाग्र शान्त हो सुन लेना ।
जैसे मुनि धर्म ग्रहण कर भी, सीदित होते कातर नाना ॥३८॥

स्वीकार महाव्रत जो करके, पालन प्रमाद वश करे नहीं ।
रस गृद्ध असंयत वह जड़ से, बन्धन का छेदन करे नहीं ॥३९॥

ईर्या भाषा तथा एषणा, निक्षेपादान जुगुप्सा में ।
जिसकी सतर्कता रहे नहीं, जाता न वीर के वह पथ में ॥४०॥

अस्थिर तप व्रत नियम भ्रष्ट, चिरकाल मुण्ड रुचि रखकर भी।
चिरकाल स्वयं को पीड़ा दे, संसार पार करता न कभी ॥४१॥

पोली मुट्ठीवत् सारहीन, अनियन्त्रित खोटे पण जैसा।
क्या काचमणि वैदूर्य सदृश, पाये विज्ञों में पद वैसा ॥४२॥

जो भ्रष्टवेश ले ऋषिध्वज से, जीविका चलाता है अपनी।
हो असंयमी संयत कहता, चिर करे नष्ट सद्गति अपनी ॥४३॥

जैसे पीकर विष कालकूट, विधि रहित शस्त्र धारण करके।
अवश यक्ष सम हानि करे, जो धर्म विषय में घुल करके ॥४४॥

जो लक्षण स्वप्न प्रयोग करे, आसक्त निमित्त कौतुक में हो।
विस्मयकारी आस्रवजीवी, पाता न अन्त में शरण अहो ॥४५॥

अतिशय अबोध से वह अशील, मुनि उलट दृष्टि है दुःख पाता।
दूषित कर मुनि पद हो कुरूप, तिर्यक् नारक भव में जाता ॥४६॥

औद्देशिक नित्याग्र क्रीतकृत, दूषित कुछ भी जो नहीं तजे।
पावक सम जो हो सब भोजी, कर पाप मृत्यु से कुगति भजे ॥४७॥

निज दुष्ट वृत्ति जो हानि करे, वह गल छेदी रिपु करे नहीं।
मरणकाल में खेद खिन्न, जानेगा संयमहीन कहीं ॥४८॥

है व्यर्थ श्रमण रुचि उस नर की, जो उत्तमार्थ विपरीत करे।
उसका है इह परलोक नहीं, वह दोनों जग का नाश करे ॥४९॥

ऐसे कुशील स्वच्छन्द साधु, करते जिनेन्द्र पथ का खण्डन।
कुररी समभोग स्वाद मूर्छित, पाते चिन्ता और पीड़ा मन ॥५०॥

अनुशासन ज्ञान गुणों से युत, मेधावी वाणी शुभ सुनकर।
तज के कुशील का पन्थ सभी, वह चले महामुनि पथ पग भर ॥५१॥

फिर चारित्राचार गुणान्वित, उत्तम संयम का पालन कर।
पाता उत्तम विपुल मोक्ष पद, आस्रव रहित कर्म क्षय कर ॥५२॥

महा प्रतिज्ञ यशस्वी मुनिवर, उग्रतपी और शान्त दान्त।
निर्ग्रन्थीय महाश्रुत का है, विस्तृत कथन किया निर्भ्रान्त ॥५३॥

श्रेणिक राजा तुष्ट हुआ, और हाथ जोड़कर यों बोला।
निश्चय अनाथ का सही रूप, मेरे आगे तुमने खोला ॥५४॥

सुफल जन्म मानुष तेरा, और सफल लाभ तेरा है साथ।
तुम तीर्थंकर पथ अनुगामी, हो तुम सबन्धु और तुम्हीं सनाथ ॥५५॥

हे संयत ! तुम सब जीवों के, तथा अनाथों के हो नाथ।
चाह रहा अनुशासन तुम से, और क्षमा हे कृपा निधान ॥५६॥

ध्यान विघ्न जो किया तुम्हारा, मैंने तुमसे यों पृच्छा कर।
भोगों से जो किया निमन्त्रण, वह अपराध क्षमा दे कर ॥५७॥

परम भक्ति से राजसिंह वह, श्रमण सिंह की स्तवना कर।
विमल चित्त से धर्मलीन हो, गया सकल परिजन लेकर ॥५८॥

पुलकित रोमकूप हो भूपति, दे आवर्तन मुनि वन्दन कर।
सविनय भू पर शिर टेक दिया, फिर चला गया हर्षित होकर ॥५९॥

त्रिगुप्ति गुप्त गुण से समृद्ध, निर्मोह दण्ड त्रय विरत श्रमण।
उन्मुक्त भाव से भूतल पर, खगवत् वह करता रहा भ्रमण ॥६०॥

★

२१. समुद्रपालीय

चम्पा में रहता था श्रावक, जो वणिक् नाम से शुभ पालित ।
महावीर जिनराज प्रभु का, शिष्य मार्ग पर था चालित ॥१॥

निर्ग्रन्थ वचन में अतिकोविद, श्रावक व्रत को उसने पाया ।
वाणिज्य हेतु चल नौका से, पिहुण्ड नगर को वह आया ॥२॥

पिहुण्ड नगर धंधा करते, निज पुत्री दी व्यापारी ने ।
उस गर्भवती को ले निजपुर, प्रस्थान किया व्रतधारी ने ॥३॥

पालित पत्नी ने सागर में, शुभ पुत्र रत्न को जन्म दिया ।
सागर में शिशु ने जन्म लिया, यों समुद्र पाल यह नाम किया ॥४॥

सकुशल चम्पा में पहुंच, वीर-श्रावक व्यापारी घर आया ।
सुख योग्य पुत्र वह उसके घर, सुखदायी-संवर्धन पाया ॥५॥

कला बहत्तर सीखी उसने, एवं हुआ नीति विद्वान् ।
भरी जवानी और सम्पदा, प्रिय दर्शन था रूप महान् ॥६॥

रूपिणी नाम की रूपवती, पत्नी ले आए पिता उसे ।
दोगुन्दक सुरवत् रम्य महल, करता क्रीड़ा ले साथ जिसे ॥७॥

प्रासाद झरोखे में बैठा, देखा उसने था एक वार ।
ले जाते वध्य नगर बाहर, वध-मण्डन से शोभित उस बार ॥८॥

चोर देख वैराग्य जगा, फिर समुद्रपाल बोला ऐसा।
अहो ! अशुभ कर्मों का फल, अवसान कटुक होता कैसा ॥९॥

सम्बोध प्राप्त कर ज्ञानवान, वैराग्य परम वह प्राप्त किया।
मात पिता की अनुमति पा, अनगार प्रव्रज्या मार्ग लिया ॥१०॥

अति मोहपूर्ण आसक्ति भाव, तज महा क्लेश अति भयकारी।
व्रतशील परीषह के सहिष्णु, पर्याय धर्म में रुचिधारी ॥११॥

व्रत सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य, अस्तेय असंग्रह जिनदेशित।
कर पंच महाव्रत को धारण, विचरे निर्मल मन वह पण्डित ॥१२॥

सब जीवों पर दयानुकम्पी, क्षमता से सहे ब्रह्मचारी।
सावद्य योग का वर्जन कर, विजितेन्द्रिय विचरे व्रतधारी ॥१३॥

उचित काल सब कार्य करे, निजशक्ति समझ कर जग विहरे।
दारुण शब्दों से हरिसम जो, अप्रिय बोले ना त्रास धरे ॥१४॥

मध्यस्थ चले जग की सुनकर, प्रिय अप्रिय सब को सहन करे।
ना सबमें वैसी चाह करे, पूजा निन्दा न चित्त धरे ॥१५॥

विविध भाव होते मनुजों में, जिनको मुनि मन नियमन करते।
भय से दारुण हो कष्ट वहाँ, तिर्यग् नर या सुरके होते ॥१६॥

आते परिषह दुस्सह अनेक, अतिकायर खिन्न जहाँ होते।
पाकर उनको ना व्यथित बने, रण मुख गजेन्द्र समस्थिर रहते ॥१७॥

शीतोष्ण, मशक, तृण, स्पर्श दंश, आतंक विविध तन स्पर्श करे।
मुनि शांत भाव से सहन करे, कृत पूर्व कर्म को दूर करे ॥१८॥

राग-द्वेष और मोह त्याग कर, संत विचक्षण नित्य कहाँ।
वायु अकम्पित मेरु तुल्य हो, आत्म गुप्त दुःख सहे वहाँ ॥१९॥

ऊँचा नीचा ना भाव करे मुनि, पूजा निन्दा ना मन लाता।
ऋजु भाव हृदय धरके ऋषिवर, हो पाप-विरत शिवपथ पाता ॥२०॥

रति अरति सहिष्णु आत्मार्थी, परिचय परित्यागी दोष विरत।
परमार्थ निरत हो छिन्न शोक, निर्ममी अकिंचन संयम रत ॥२१॥

निर्दोष स्थान में रहे श्रमण, उपलेप और बीजादि रहित।
महायशस्वी ऋषि सेवित, परिषह सहते तन मोहरहित ॥२२॥

कर प्राप्त ज्ञान सद्ज्ञानों से, मुनि श्रेष्ठ धर्म आचरण करे।
हो परम ज्ञान और यशधारी, नभ में रवि सम उद्योत करे ॥२३॥

कर पुण्य-पाप दोनों का क्षय, संयम में निश्चल विप्रमुक्त।
सागर सम तिरके भव समुद्र, मुनि समुद समुद्र हो गया मुक्त ॥२४॥

★

२२. रथनेमीय

था शौर्यपुरी में एक नृपति, धन जन पुर से वैभवशाली।
शुभ राजलक्षणों से शोभित, वसुदेव नाम था सुखकारी ॥१॥

उसको पत्नी दो प्यारी थी, रोहिणी देवकी जग जानी।
थे उनके परम दुलारे दो, सुत राम कृष्ण अति गुण खानी ॥२॥

सोरियपुर का भूपति था, अत्यन्त ऋद्धि वैभवधारी।
था जिसका नाम समुद्रविजय, जो राजलक्षणों का धारी ॥३॥

नृप की पत्नी का नाम शिवा, सुत उनका महा यशस्वी था।
जो अरिष्टनेमि जिन लोकनाथ, और दमी जनों का स्वामी था ॥४॥

श्रीरिट्ठनेमि शुभ नामवान्, स्वर लक्षण से अतिशोभित थे।
अष्ट सहस्र लक्षणधारी, तन-श्याम गोत्र से गौतम थे ॥५॥

वज्र ऋषभ सँहनन भला, मत्स्योदर आकृति सुखकारी।
उनके हित कन्या राजिमती, केशव[1] ने माँगी हितकारी ॥६॥

वह परम सुशीला नृपतनया, अतिशय मनहर दर्शन वाली।
नारी लक्षण से सँपन्ना, विद्युत् ज्यों तेज प्रभावाली ॥७॥

---

१. श्री कृष्ण

बोले कन्या के पिता वहाँ, अति ऋद्धि युक्त नारायण को ।
आयें कुमार मेरे घर पर, जिससे मैं कन्या दूँ उनको ॥८॥

नहला औषध-मिश्रित जल से, कौतुक और मंगल करवाये ।
धारण कर उत्तम दिव्य वस्त्र, आभरण विभूषित हो आये ॥९॥

वासुदेव के मतवाले, अति ज्येष्ट नाग[1] पर चढ़ आये ।
अत्यन्त सुशोभित लगते थे, ज्यों शिर पर चूड़ामणि भाये ॥१०॥

अत्युच्च छत्र चामर युग से, थे नेमिनाथ शोभित अतिशय ।
सब ओर दशार्ह जन सेवित थे, लगते ज्यों तन में श्रेष्ठ हृदय ॥११॥

चतुरंग सजायी सेना से, नेमीश्वर क्रमशः घिरे रहे ।
तूर्यों[2] के दिव्य निनादों से, गुंजित नभ मण्डल शोभ रहे ॥१२॥

ऐसी अतिशय शुभ ऋद्धि और, अति श्रेष्ठ कान्ति को वहन किये ।
वह वृष्णि वंश के श्रेष्ठ तनय, निज भव्य भवन से निकल गये ॥१३॥

नगरी में जाते नेमी ने, भयभीत जीव को देख वहाँ ।
दुःख पीड़ित करते करुण शब्द, पंजड़ बाड़ों में रुके जहाँ ॥१४॥

जीवन के अन्तिम क्षण गिनते, मांसार्थ भक्ष्यहित जो लाए ।
यह देख प्राज्ञ नेम प्रभु ने, सारथि को ऐसे फरमाए ॥१५॥

किसलिए दीन प्राणी ये सब, जीवन और सुख के अभिलाषी ।
पंजर बाड़ों में रोके हैं, निर्दोष गले में दे फाँसी ॥१६॥

सुनकर वह सारथि तब बोला, ये भद्र जीव जो आए हैं ।
तेरे वैवाहिक कार्यों में, बहुजन भोजन हित लाए हैं ॥१७॥

---

१. हाथी २. बाद्य

बहु जीव विनाशक सारथि के, सुन वचन नेमिवर खिन्न हुए।
उस महाप्राज्ञ ने यह सोचा, जीवों पर करुणा भाव लिए ॥१८॥

मेरे कारण इन जीवों की, जो हिंसा होगी भयकारी।
यह मेरे लिए नहीं श्रेयस्—परभव में होगा सुखकारी ॥१९॥

वह महायशस्वी राजपुत्र, कटिसूत्र और कुण्डल जोड़े।
दे दिए हर्ष से सारथि को, आभूषण तन के सब छोड़े ॥२०॥

व्रतभाव जगे जब ही मन में, औचित्य मनाने सुर आए।
परिषद् के संग सकल वैभव, वे अपने साथ लिए आए ॥२१॥

देव मनुष्यों से घिरकर, वे शिविका पर आरूढ़ हुए।
द्वारिकापुरी से चल करके, गिरिनार धाम जा ठहर गए ॥२२॥

उद्यान पहुँच वे रिठनेमि, शिविका से नीचे उतर गए।
थे उनके साथ हजारों जन, चित्रा में वे निष्क्रमण किए ॥२३॥

सौरभ से सुरभित अतिकोमल, घुँघराले बालों को प्रभु ने।
हो शान्त भाव से पंचमुष्टि, निज लोच किया जिन मुनि बनने ॥२४॥

उस लुप्तकेश और इन्द्रियजित, प्रभु से बोले यों वासुदेव।
तुम इष्ट मनोरथ शीघ्र प्राप्त, करलो जग में हे दमी देव ! ॥२५॥

दर्शन तथा ज्ञान बल से, एवं शुभ चारित्रिक बल से।
तुम बढ़ो सदा इस जीवन में, पालन कर क्षान्ति मुक्त मन से ॥२६॥

ऐसे वे राम तथा केशव, यदुश्रेष्ठ और कितने ही जन।
द्वारिकापुरी को लौट गये, करके मुनिवर को हित वन्दन ॥२७॥

प्रिय सखियों से वह राज-सुता, मुनिव्रत में उनकी दीक्षा सुनकर।
हो गयी शोक से मौन, हंसी, आनन्द और खुशियाँ तजकर ॥२८॥

मन ही मन फिर उसने सोचा, धिक्कार है मेरे जीवन को।
है उचित हमारी भी दीक्षा, कारण वे छोड़ गए हमको ॥२९॥

भौरों के तुल्य स्वकेशों को, कंघी और कूर्च सँवारे वे।
कर दिया स्वतः लुँचन उनको, अतिवीर और कृत निश्चय वे ॥३०॥

उस इन्द्रियजित् लुँचितकेशा, को वासुदेव बोले ऐसे।
भव सागर पार करो कन्ये, अतिशीघ्र सफल हो व्रत जैसे ॥३१॥

वह शीलवती लेकर दीक्षा, द्वारिकापुरी में बहुजन को।
उस बहुश्रुता ने दीक्षा दी, अपने जन एवं परिजन को ॥३२॥

जा रही रैवतक गिरि पर जब, वर्षा से पथ में भीग गयी।
गिर रही बूंद तम छाया था, तब गिरि-गह्वर में चली गयी ॥३३॥

वस्त्रों को दूर किए तन से, जैसी जन्मी वैसा देखा।
रथनेमि देख मन भग्न हुआ, फिर उसने भी इसको देखा ॥३४॥

एकान्त स्थान उस संयत को, लख डरी सती गिरि गह्वर में।
कर बाहुपाश से संगोपन, कंपित तन बैठ गयी क्षण में ॥३५॥

रथनेमि समुद्रविजय सुत ने, अवसर का कैसा लाभ लिया।
उस भीत प्रकम्पित साध्वी को, निर्वस्त्र देख यह कथन किया ॥३६॥

हे सुघड़ रूप ! सुन्दर भाषिणि, भद्रे ! मैं हूँ रथनेमि यहाँ।
होगी न तुझे कोई पीड़ा, कर सुतनु ! हमें स्वीकार यहाँ ॥३७॥

आ इन्द्रिय-सुख भोगें तब तक, निश्चय नर जीवन दुर्लभ है।
हो भुक्त-भोग हम पीछे फिर, शिव माग चलें भव दुर्लभ है ॥३८॥

उत्साह-भग्न संयम पथ में, रथनेमि श्रमण को देख वहाँ।
असंभ्रान्त मन राजीमति, अपने तन को ढँक लिया वहाँ ॥३९॥

नृपवर कन्या वह राजीमति, व्रत और नियम में थी सुस्थिर।
कुल जाति शील रक्षण करती, बोली उस मुनि को साहसधर ॥४०॥

वैश्रमण रूप से यदि तुम हो, लालित्य छटा से नलकूबर।
फिर भी न कभी मैं चाह करूँ, तुम चाहो शक्र बनो भू पर॥
धूमकेतु जलते पावक में, सर्प अगन्धनकुल वाले।
करते प्रवेश पर वान्त नहीं, पीते जीवन की इच्छा ले॥४१॥

हे अयशकाम ! धिक्कार तुम्हें, जो तू भोगों के कारण से।
यह वान्त भोग पीना चाहो, है मरण श्रेष्ठ तन धारण से॥४२॥

मैं भोजराज की पुत्री हूँ, तुम अन्धककुल के हो भूषण।
हम गन्धक अहि सम बने नहीं, निश्चल मन संयम कर पालन॥४३॥

यदि देख-देख नारी जन को, उनके प्रति राग करोगे तो।
पवनाहत हड जैसे जग में, तुम अस्थिर चित्त बनोगे तो॥४४॥

गोपाल और जो भांडपाल, होते ना स्वामी उस धन के।
श्रामण्य भाव के तुम भी त्यों, स्वामी न बनोगे जीवन के॥
तू क्रोध मान का निग्रह कर, तज माया एवं लोभ सभी।
इन्द्रिय गण को वश में लेकर, हो स्वयं पाप से दूर अभी॥४५॥

संयम शीला उस राजिमती के, हितकारी वचनों को सुनकर।
अंकुश से गजवत् रथनेमि, सद्धर्म मार्ग में हुए अचर॥४६॥

हो गया जितेन्द्रिय, मन वाणी, और गुप्तकाय से भी निश्चल।
सुस्थिर मुनिव्रत का स्पर्श किया, आजीवन धारणकर व्रत निर्मल॥४७॥

अतिउग्र तपस्या को करके, बन गए केवली वे दोनों।
सारे कर्मों का क्षय करके, पा गए श्रेष्ठ सिद्धि दोनों॥४८॥

सम्बुद्ध विचक्षण पण्डित जन, ऐसा ही जग में करते हैं।
जैसे रथनेमि हुए वैसे, भोगोपभोग से डरते हैं॥४९॥

२३ : केशि-गौतमीय

थे लोक सुपूजित अर्हन् जिन, शुभ पार्श्वनाम जग जन जाने।
संबोधयुक्त सर्वज्ञ धर्म के, तीर्थंकर थे जग माने ॥१॥

उस लोक प्रदीपक जिनवर के, थे शिष्य महायश के धारी।
शुभ नाम श्रमण केशी कुमार, थे ज्ञान चरण के भण्डारी ॥२॥

श्रुत और अवधि त्रय ज्ञान धरे, मुनि संघ सहित शोभा पाये।
ग्रामानुग्राम चलते-फिरते, सावत्थी नगरी वे आये ॥३॥

उस नगरी के ही पास एक, उद्यान नाम तिन्दुक जिसका।
वे ठहर गये उसमें जाकर, प्रासुक संस्तारक था उसका ॥४॥

फिर उसी समय में वर्धमानप्रभु, धर्म तीर्थंकर जिनवर थे।
सर्वलोक विश्रुत मुनि नायक, पूर्ण ज्ञान के धारक थे ॥५॥

उस लोक प्रकाशक जिनवर के, प्रिय शिष्य महायश के धारी।
अतिशय ज्ञानी गौतम नामा, थे ज्ञान-क्रिया के भण्डारी ॥६॥

थे द्वादशांग-विन् श्रुत ज्ञानी, निज शिष्य संघ मन भाये थे।
ग्रामानुग्राम विचरण करते, सावत्थी पुर में आये थे ॥७॥

उस नगरी के परिसर में था, उद्यान नाम कोष्ठक जिसका।
वे ठहर गये उसमें जाकर, था जीव रहित आसन उनका ॥८॥

केशी और गौतम विचर रहे, उज्ज्वल संयम यश के धारी।
थे दोनों मुनिवर ज्ञान लीन, तप संयम समता के धारी ॥९॥

दोनों के मुनि संघों में, संयमी तपस्वी जन गण में।
एक तात्त्विक चिन्ता उदित हुई, दोनों त्रायी गुणवन्तों में ॥१०॥

है कैसा धर्म हमारा यह, अथवा यह धर्म अहो कैसा।
आचार धर्म यह अथवा वह, दोनों में भेद कहो कैसा ॥११॥

है किया पार्श्व ने प्रतिपादन, यह चातुर्यामिक पथ जग में।
है पंच महाव्रत मय शिवपथ, प्रभु वर्धमान का व्रत जग में ॥१२॥

है धर्म अचेलक वर्धमान का, पार्श्व-धर्म शुभ-वस्त्र सहित।
एक कार्य करने वाले, दो में ऐसा क्यों भेद विहित ॥१३॥

केशी गौतम ने शिष्यों के, इस तर्कवाद को सुन करके।
मन ही मन स्वयं विचार किया, निर्णय करना सब मिल करके ॥१४॥

विनय-धर्म ज्ञाता गौतम, निज शिष्य संघ से घिरे हुए।
आदर करने हित ज्येष्ठ वंश को, तिन्दुकवन चलकर आए ॥१५॥

केशी ने अपनी सन्निधि में, गौतम मुनि को देखा आया।
यथायोग्य सन्मान भक्तिकर, निज मन को सन्तुष्ट किया ॥१६॥

जीव रहित शालि आदिक के, पंचम पयाल कुश तृण लाये।
गौतम के आसन हित उनने, शीघ्रातिशीघ्र सब लगवाये ॥१७॥

केशी श्रमण और गौतम, दोनों ही शुभ यश के धारी।
चन्द्र-सूर्य सम बैठे दोनों, शोभा पाते व्रतधारी ॥१८॥

परमत के बहुत व्रती आए, कौतुककामी कई दर्शन को।
कतिपय सहस्र दर्शक गृहस्थ, जुट गये ज्ञान रस पीने को ॥१९॥

गन्धर्व देव दानव राक्षस, और यक्ष तथा कई किन्नर गण।
कितने अदृश्य जीवों का भी, हो गया वहाँ पर शुभ मेलन ॥२०॥

बोले केशी यों गौतम को, हे महाभाग पूछें तुमको।
केशी के कहने पर बोले, गौतम हर्षित यों मुनिवर को ॥२१॥

केशी से गौतम यों बोले, भगवन्! जो इच्छा हो प्रश्न करें।
अनुमति केशी गौतम से ले, बोले शंका को दूर करें ॥२२॥

प्रभु पार्श्वनाथ ने चतुर्याम, चारित्र कहा मुनिराजों का।
पंच महाव्रत धर्म कहा, श्री वर्धमान ने मुनि जन का ॥२३॥

एक कार्य में लगे हुए, दोनों में अन्तर, कारण क्या।
इस धर्म द्वैध को देख प्राज्ञ, संशय मन में ना होता क्या ॥२४॥

केशी कुमार के यों कहते, गौतम ने वचन कहा ऐसा।
धर्मार्थ तत्व के निश्चय में, प्रज्ञा सद्-बोध करे वैसा ॥२५॥

पहले के मुनि थे मूढ़ सरल, होते पिछले के वक्र मूढ़।
मध्यम के प्राज्ञ और ऋजुमति, अतएव किये दो भेद गूढ़ ॥२६॥

प्रथम तीर्थ में ग्रहण कठिन, अन्तिम को दुष्कर हैं पालन।
हैं मध्य तीर्थ के साधु योग्य, विधिवत् लेकर करते पालन ॥२७॥

हे गौतम! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, कहदो मुझको गौतम निर्भय ॥२८॥

है धर्म अचेलक मुनियों का, यह वर्धमान ने कथन किया।
पर पार्श्व सचेलक वर्ण युक्त, शुभ धर्म मार्ग है बतलाया ॥२९॥

जब लक्ष्य हमारा एक यहाँ, फिर इस विभेद का क्या कारण।
मेधाविन्! इन दो वेषों से, संशय न बढ़े हो क्या वारण ॥३०॥

केशी के ऐसा कहने पर, हर्षित मन गौतम यह बोले।
विमलज्ञान से मर्म समझ, धर्मोपकरण प्रभु ने खोले ॥३१॥

जन की प्रतीति के हेतु यहाँ, हैं भिन्न वेष प्रभु बतलाये।
संयम यात्रा और भेद ग्रहण, शुभ लिंग प्रयोजन जग गाये ॥३२॥

सद्‌भूत मोक्ष के साधन में, निश्चय मत की जिज्ञासा हो।
सद् दर्शन ज्ञान चरण साधन, निश्चय स्वरूप की लिप्सा हो ॥३३॥

गौतम है बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसका तुम उत्तर दो निर्भय ॥३४॥

गौतम ! इन शत्रु सहस्रों के, तुम मध्य भाग में ठहरे हो।
वे तुम्हें जीतने आते हैं, कैसे तुम इनको हरते हो ॥३५॥

एक विजय से पाँच विजित, और पंच विजय से दश जीते।
उन दश पर विजय मिलाने से, सारे अरि को हमने जीते ॥३६॥

हैं कहे गये वे कौन शत्रु, केशी ने पूछा गौतम से।
केशी की सुनकर कही बात, गौतम बोले हर्षित मन से ॥३७॥

अविजित आत्मा है एक शत्रु, इन्द्रिय पंचक क्रोधादि चार।
उचित रीति से जीत उन्हें, करता हूँ मुनि ! मैं जग संचार ॥३८॥

हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसको तुम दूर करो निर्भय ॥३९॥

तनधारी जग में बहुतेरे, अतिपाशबद्ध जन फिरते हैं।
हो पाश मुक्त हल्का बनकर, मुनि ! कैसे यहाँ विचरते हैं ॥४०॥

सर्वथा काट उन पाशों को, और नष्ट साधनों से करके।
मैं पाश मुक्त विचरूँ जग में, हे श्रमण ! पाप हल्का करके ॥४१॥

कहते हैं पाश किसे जग में, पूछा केशी ने गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम उत्तर बोले उनको ॥४२॥

हैं राग-रोष के तीव्र पाश, और स्नेह पाश अति भयकर है।
मैं काट उन्हें सद्‌साधन से, विचरूँ सुनीति से सुखकर है ॥४३॥

गौतम ! है बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसको तुम कहदो हो निर्भय ॥४४॥

है अन्तर्मन उत्पन्न हुई, हे गौतम ! लतिका विषवाली।
इस पर विष फल हैं अति बढ़ते, कैसे उन्मूलन कर डाली ॥४५॥

वह लता सर्वथा काट और, कर दिया मूल से उन्मूलन।
विचरूँ सुनीति से वसुधा पर, हो गया दूर है विष भक्षण ॥४६॥

केशी गौतम से यों बोले, है लता कौन-सी बतलाई।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम ने वाणी फरमाई ॥४७॥

है भव-तृष्णा ही भीमलता, और दुखद कुफल उसमें लगते।
उसको उखाड़ करके जड़ से, हम यथा न्याय विचरण करते ॥४८॥

हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसका उत्तर कह दो निर्भय ॥४९॥

प्रज्ज्वलित घोर यह पावक है, गौतम ! तन में स्थित दहक रही।
कैसे तुमने है शान्त किया, जो नाम मात्र भी दीप्त नहीं ॥५०॥

महामेघ के शीतल जल से, शीतल निर्मल जल लेकर।
मैं सतत सींचता हूँ उसको, हो सिक्त न दाह करे मुझ पर ॥५१॥

हैं अनल कौन सी बतलाई, केशी ने पूछा गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यह वचन कहे उनको ॥५२॥

है अनल कषायें बतलाई, श्रुतशील तपस्या वारि कहा।
श्रुत शीलधार से अभिहत हो, शीतल बन वह ना जला रहा ।।५३।।

हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, मुझको तुम कह दो हो निर्भय ।।५४।।

यह बड़ा साहसी और भयद, यह दुष्ट अश्व है दौड़ रहा।
उस पर तुम चढ़े हुए गौतम, क्यों नहीं तुम्हें है गिरा रहा ।।५५।।

भगते उस घोड़े को मैंने, श्रुत-रश्मि लगा स्वाधीन किया।
यह सुपथ पकड़कर चलता है, उत्पथ जाने से रोक लिया ।।५६।।

है कौन अश्व तुमने माना, केशी ने पूछा गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यह वचन कहे उनको ।।५७।।

यह दुष्ट अश्व जो दौड़ रहा, है भीम साहसी मन मेरा।
सम्यक् शिक्षा से निग्रह पा, है अश्व बना वश में मेरा ।।५८।।

हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी सशय, उसको तुम कहो मुझे निर्भय ।।५९।।

हैं कुपथ बहुत इस जगती मे, जिनसे कई जीव उलझ पड़ते।
हो गौतम ! कैसे सत्पथ पर, तुम अविचल मन होकर चलते ।।६०।।

जो मार्ग पकड़ कर चलना है, अथवा जो उत्पथ गमन करे।
हे श्रमण ! ज्ञात है सब मुझको, अतएव न चंचल चित्त धरे ।।६१।।

है किसको कहते मार्ग यहाँ, केशी ने पूछा गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम उत्तर बोले उनको ।।६२।।

जो व्रती बने है कुवचन के, वे सभी कुपथगामी जग में।
जिन कथित मार्ग सन्मार्ग कहा, है सर्वोत्तम यह शिवपथ में ।।६३।।

हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसको तुम दूरकरो तज भय ॥६४॥

पानी के प्रबल बहावों में, बहते गिरते जग जीवों के।
गति, शरण, प्रतिष्ठा और द्वीप, मुनि ! कौन सहारा जीवन के ॥६५॥

है एक द्वीप जल मध्य वड़ा, अति लम्बा चौड़ा स्थान जहाँ।
अति वेगवती जलधारा की, होती न पहुँच है कभी वहाँ ॥६६॥

कहते हैं द्वीप यहाँ किसको, केशी ने पूछा गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यह वचन कहे उनको ॥६७॥

जरा मरण के वेगों में, पड़ मरने वाले जीवों के।
है धर्म प्रतिष्ठा द्वीप और, गति रक्षक उत्तम प्राणी के ॥६८॥

हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसको तुम कहदो हो निर्भय ॥६९॥

है सागर महावेग वाला, जिसमें नौका इत-उत जाती।
उस पर तुम गौतम चढ़े हुए, यह किस विध तट पर पहुँचाती ॥७०॥

जो छिद्रयुक्त नौका होती, वह पार नहीं जा सकती है।
पर जिसमें छिद्र नही होता, बस पार वही जा सकती है ॥७१॥

किसको कहते हैं नाव यहाँ, केशी ने पूछा गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यों वचन कहे उनको ॥७२॥

कहते शरीर को नाव यहाँ, चालक इसका है जीव कुशल।
सागर संसार कहा जग में, तरते ऋषि जिनका आत्म सवल ॥७३॥

हे गौतम बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा सशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसको बतला दो हो निर्भय ॥७४॥

हैं दृष्टि बन्द करने वाले, अति निबिड़ तिमिर में जीव पड़े।
उन सारे जीवों को जग में, उद्योत बताओ कौन करे ।।७५।।

जो सकल लोक उद्योत करे, निर्मल दिनकर है हुआ उदित।
वही करेगा सब जग के, प्राणीगण का मन आलोकित ।।७६।।

है भानु यहाँ किसको कहते, केशी ने पूछा गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यों वचन कहे उनको ।।७७।।

हो गया क्षीण भव भय जिसका, सर्वज्ञ वही है जिन भास्कर।
वह सभी लोक के प्राणी का, अन्तर्मन कर देगा भास्वर ।।७८।।

हे गौतम! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसको बतला दो हो निर्भय ।।७९।।

तन मन के दुःखों से पीडित, इन जग जीवों के लिए यहाँ।
क्षेमंकर शिव और निराबाध, तुम मान रहे हो स्थान कहाँ ।।८०।।

है ध्रुवस्थान जग के ऊपर, जिसको पाना है बड़ा कठिन।
है नहीं वेदना और व्याधि, जरता[1] का संशय तथा मरण ।।८१।।

केशी ने गौतम को पूछा, वह स्थान कौनसा यहाँ कहा।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम ने उत्तर निम्न कहा ।।८२।।

निर्वाण अबाधित और सिद्धि, लोकाग्र स्थान भी इसे कहा।
शिव क्षेम उपद्रव रहित स्थान, जिस पर जाते हैं श्रमण महा ।।८३।।

वह लोक शिखर पर स्थान रहा, शाश्वत पद पाना है दुर्लभ।
भव भ्रमण अन्त करने वाले, करते न शोक पाकर मुनिजन ।।८४।।

---

१. वृद्धावस्था।

गौतम ! यह बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय ।
संशय-अतीत हे श्रुतसागर ! हो नमस्कार हे मुनि निर्भय ॥८५॥

संशय-विहीन होकर केशी, अतिघोर पराक्रम के धारी ।
गौतम को वन्दन कर मन से, शिर झुकादिया महिमाधारी ॥८६॥

पंच महाव्रत रूप धर्म को, भाव सहित स्वीकार किया ।
पार्श्व तीर्थ से वीर प्रभु के, सुखद तीर्थ में स्थान लिया ॥८७॥

केशी गौतम का उस पुर में, मंगलमय संगत नित्य रहा ।
आत्मार्थ और उन्नतिकारी, श्रुतशील सुवर्धक बना रहा ॥८८॥

सन्तुष्ट हुई परिषद् सारी, सन्मार्ग सभी आरूढ़ हुये ।
स्तुति पा केशी गौतम स्वामी, होवें प्रसन्न प्रभु दोनों ये ॥८९॥

●

२४ : प्रवचनमाता

समिति गुप्ति दो भेदों से, हैं आठ यहाँ प्रवचन माता।
है पाँच समिति और तीन गुप्ति, सूत्रों में भेद कहा जाता ॥१॥

ईर्या, भाषा, और एषणा, आदान और उच्चार कही।
समिति और मन, वचन, काय की, गुप्ति आठवी सुखद सही ॥२॥

संक्षिप्त रूप से आठ समिति, ये वीर प्रभु ने बतलाई।
यह द्वादशांग वाणी जिन भाषित, समिति गुप्ति में समा गई ॥३॥

आलम्बन काल मार्ग यतना का, मुनि ईर्या में ध्यान धरे।
इन चार कारणों से विशुद्ध, संयति ईर्या में गमन करे ॥४॥

चारित्र, ज्ञान, दर्शन तीनों, ईर्या का आलम्बन मानो।
है दिवस काल में मार्ग कहा, उत्पथ तजकर सत्पथ जानो ॥५॥

है द्रव्य क्षेत्र और काल भाव से, चार प्रकार कही यतना।
कह रहा अभी मै भेदों को, दे ध्यान योग उनको सुनना ॥६॥

आँखों से जीव द्रव्य देखे, और क्षेत्रधनुष परिमित जानो।
चलने तक देखे काल यही, है भाव एक मनसे मानो ॥७॥

इन्द्रिय गण के शब्दादि विषय, स्वाध्याय पंचविध कर वर्जन।
ईर्या में तन्मय हो मुनिजन, यतना से जग में करे भ्रमण ॥८॥

भाषा समिति का भाव सुनो, है क्रोध मान माया मन में।
फिर लोभ हास्य भय मुखर वचन, विकथा प्रमाद है जन-जन में ॥९॥

संयमी आठ इन स्थानों का, परिवर्जन निज मन से करते।
यथा समय निर्दोष और, परिमित भाषा मुख से कहते ॥१०॥

आहार उपधि और शय्या में, मुनि दोष बचाना चित्तधरे।
परिभोग ग्रहण और गवेषणा में, विविध शुद्धि का ध्यान करे ॥११॥

उद्गम उत्पादन गवेषणा में, दूजी में ग्रहणा दोष हरे।
परिभोग चार दूषण टाले, संयमी यत्न से अशन करे ॥१२॥

सामान्य और कारण से ले, यों द्विविध भाण्ड मुनिजन धरते।
उनके लेने वा रखने में, उपयोग सहित यह विधि करते ॥१३॥

नेत्रों से देखे और करे, परिमार्जन मुनिवर यतना से।
नित्य समिति से उपकरणों को, लेते धरते जो मन से ॥१४॥

उच्चार प्रश्रवण श्लेष्म और, सिंघान स्वेद जल सम्बन्धित।
आहार उपधि तन और त्याज्य का, करे विसर्जन यत्न सहित ॥१५॥

अनापात आलोकरहित, आपात-रहित संलोक जहाँ।
असंलोक आपात और, होता संलोकापात वहाँ ॥१६॥

अनापात संलोक रहित, स्थण्डिल न वहाँ पर-पीड़क हो।
सम, पोल रहित जो पहले से, निर्जीव भाव में परिणत हो ॥१७॥

विस्तीर्ण चार अंगुल गहरी, निर्जीव भूमि घर निकट नहीं।
बिल और प्राण बीजादि रहित, मलत्यागयोग्य यह भूमि कही ॥१८॥

ये पाँच समिति के भेद बताते, समासतः मुनिवर्य यहाँ।
अब तीन गुप्तियाँ बतलाऊँ, क्रमशः सुन लेना उन्हें यहाँ ॥१९॥

सत्य तथा दूजी असत्य, सत्यामृष वैसे ही जानो।
चौथी असत्यामृष कहते, ये मनोगुप्तियाँ पहचानो ॥२०॥

समारंभ संरंभ कहा, आरम्भ तीसरा भेद यहाँ।
मन की प्रवृत्ति का रोध करे, यतना करने से यमी कहा ॥२१॥

सत्य और मिथ्याभाषा, तीजा मिश्रित है बतलाया।
व्यवहार चतुर्थी भाषा है, यों वचन गुप्ति को समझाया ॥२२॥

समारम्भ संरम्भ तथा, आरम्भ भेद तीजा जानो।
इनमें वाणी के वर्तन को, रोके वह संयत पहचानो ॥२३॥

खड़ा रहे बैठे लेटे, संकोच प्रसारण कर्म करे।
उल्लंघन वा परिलंघन, इन्द्रियगण का परयोग करे ॥२४॥

समारम्भ संरम्भ तथा, आरम्भ तीसरा बतलाया।
इनमें लगती निज काया को, गोपन ही गुप्ति कहलाया ॥२५॥

ये समिति प्रवृत्ति रूप कही, चारित्र धर्म में जिनवर ने।
अशुभ कर्म से वृत्ति रोकना, गुप्ति लगायी मुनिवर ने ॥२६॥

करता जो प्रवचन माता का, सम्यग्विधियुत् आचरणश्रमण।
वह शीघ्र सफल जग बन्धन मे, होता विमुक्त ज्ञानी तप धन ॥२७॥

●

२५ : यज्ञीय

जयघोष नाम का एक विप्र, था ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ।
महायशस्वी व्रत यज्ञों में, सदा चित्त अनुरक्त रहा ॥१॥

इन्द्रियगण का निग्रहकर्ता, और महाश्रमण सत्पथगामी।
ग्रामानुग्राम विचरण करते, वाराणसि आये शुभकामी ॥२॥

वाराणसि नगरी बाहर था, उद्यान मनोरम प्रियकारी।
निर्जीव स्थान संस्तारक पा, मुनि बसे वहाँ पर उपकारी ॥३॥

उसी समय उस नगरी में, था ब्राह्मण विद्या का ज्ञाता।
वह विजयघोष संज्ञा वाला, वेदज्ञ यज्ञ विधि करवाता ॥४॥

फिर उस पुर में जयघोष श्रमण, उपवास मास के पारण में।
भिक्षा लेने को आ पहुँचे, वे विजयघोष के आँगन में ॥५॥

भिक्षा हित आए मुनिवर को, याजक ने दी उल्टी शिक्षा।
मुनि करो याचना और कही, मैं तुम्हें नहीं दूँगा भिक्षा ॥६॥

जो विप्र वेद के ज्ञाता हैं, यज्ञार्थी संस्कृति से द्विज हैं।
ज्योतिषांग के विज्ञ और जो, धर्मशास्त्र के पारग हैं ॥७॥

निज पर के उद्धार कार्य में, जो विपदा मोचन में सक्षम हैं।
भिक्षो ! उनके ही हित देना, षड्रसयुत् भोजन उत्तम हैं ॥८॥

याजक से ऐसा पा निषेध, वह महाश्रमण उस काल वहां।
ना रुष्ट और न तुष्ट हुआ, आत्मार्थ गवेषण ध्यान रहा ॥९॥

न अन्न हेतु या पान हेतु, न जीवन जीने हेतु कहा।
उनके भव बन्धन मोक्ष हेतु, यों धर्म हेतु शुभवचन कहा ॥१०॥

वेदों का मुख ना जान रहे, और न यज्ञों के मुख को।
नक्षत्रों में प्रमुख कौन है, और न धर्मों के मुख को ॥११॥

निज पर के उद्धारक जो हैं, उनका भी तुमको ज्ञान नहीं।
यदि इनका उत्तर तुझे ज्ञात हो, बतलाओ तो हमें सही ॥१२॥

प्रश्नों के उत्तर देने मे, असमर्थ विप्र बोला मुनि से।
अंजलि जोड़े पृच्छा करता, हो संग उपस्थित परिजन के ॥१३॥

तुम कहो वेद का मुख क्या है, यज्ञों का जो मुख तुम बोलो।
नक्षत्रों का मुख्य कौन, धर्मों का मुख भी तुम बोलो ॥१४॥

उद्धार समर्थक जो जन है, अपने और पराये का।
हे साधु करो तुम समाधान, मेरे इन सारे संशय का ॥१५॥

अग्निहोत्र मुख वेदों का है, यज्ञार्थी मुख यज्ञों का।
नक्षत्र गणों का शशि मुख है, काश्यप मुख है सब धर्मों का ॥१६॥

जैसे कर-बद्ध ग्रहादि सभी, शशि के आगे में हैं रहते।
वन्दना नमन करते मनहर, वैसे सब जिनवर को करते ॥१७॥

अज्ञान यज्ञवादी ये हैं, ब्राह्मण विद्या के वैभव से।
स्वाध्याय तपस्या से सवृत, भस्मावृत पावक के जैसे ॥१८॥

कहलाते ब्राह्मण जग में, जो अग्नि तुल्य पूजित सब में।
कुशल पुरुष से सदा मान्य, ब्राह्मण कहलाते वे जग में ॥१९॥

है प्रीति नहीं मन आने की, करता न शोक मन में जाते।
जो आर्य वचन में रमण करे, हम उसको ब्राह्मण कह गाते ॥२०॥

जैसे शुद्ध तपा सोना, निर्मल पालिश से चमकाते।
वैसे भय राग दोष वर्जित, जन को हम ब्राह्मण कह गाते ॥
जिसका है रक्त मांस अपचित, जो तपी दान्त और कृश तन है।
सुव्रत या निर्वाण प्राप्त को, हम सब कहते ब्राह्मण हैं ॥२१॥

चेष्टा से त्रस को जो जाने, स्थावर को श्रुत से पहचाने।
करते न त्रिविध हिंसा जग में, उसको हम ब्राह्मण कर मानें ॥२२॥

जो क्रोध हास भय और लोभ से, झूठ वचन मुख ना कहते।
उस सत्य वचन के वक्ता को, हम सब जग में ब्राह्मण कहते ॥२३॥

हो द्रव्य सचित्त अथवा अचित्त, थोड़ा हो या वह अधिक कहीं।
जो दिये विना ना ग्रहण करे, कहते उसको हम विप्र सही ॥२४॥

जो दिव्य मनुज और पशु जग का, मैथुन सेवन ना करते हैं।
उस त्रिविध योग त्यागी जन को, हम जग में ब्राह्मण कहते हैं ॥२५॥

जैसे जल में संभूत कमल, ज्यों जल-मल लिप्त नहीं रहते।
ऐसे कामों में जो अलिप्त, हम सब उसको ब्राह्मण कहते ॥२६॥

रसविजयी और मुधाजीवी, छोड़ा जिसने घर कांचन है।
घरदारी से जो अनासक्त, कहते उसको हम ब्राह्मण हैं ॥
ज्ञाति और बान्धव जन के, संयोग पूर्व का जो तजते।
आसक्त न होता जो इनमें, उसको ब्राह्मण हैं हम कहते ॥२७॥

पशु वध विधि कारक सभी वेद, और पाप कर्म से यज्ञ किया।
ना त्राण करे दुष्कर्मी का, है कर्म सबल जग जान लिया ॥२८॥

शिर-मुण्डन से हो न श्रमण, ओंकार जपे ना द्विज होते।
वनवास मात्र से हो न मुनि, कुश वल्कल से न तपी होते ॥२९॥

समता से होता श्रमण सही, है ब्रह्मचर्य से सद्ब्राह्मण।
ज्ञानाराधन से मुनि होता, तापस होता कर तप साधन ॥३०॥

कर्मों से ब्राह्मण होता है, कर्मों से क्षत्रिय बन जाता।
हैं वैश्य कर्म से ही होते, और शूद्र कर्म से ही होता ॥३१॥

जिनवर ने प्रकट किये इनको, जिनसे स्नातक हो जाते हैं।
जो सब कर्मों से विनिर्मुक्त, हम उसको ब्राह्मण कहते हैं ॥३२॥

यों सद्गुण संयुत् जो होते, वे द्विज उत्तम कहलाते हैं।
निज पर के उद्धार करण में, वे समर्थ जग होते हैं ॥३३॥

ऐसे संशय के हटने पर, वह विजयघोष नामक ब्राह्मण।
सब भाँति समझकर ग्रहण किया, जयघोष श्रमण का सद्भाषण ॥३४॥

अब विजय घोष सन्तुष्ट हुआ, और हाथ जोड़ बोला उनको।
जैसा स्वरूप है माहन का, समझाया अच्छा है हमको ॥३५॥

तुम ही सद्यज्ञों के कर्ता, वेदज्ञ विचक्षण भी हो तुम।
तुम ज्योतिषांग के ज्ञाता हो, धर्मों के पारग[1] भी हो तुम ॥३६॥

निज पर के उद्धारकरण में, तुम समर्थ और अटल रहे।
अब करो अनुग्रह भिक्षु श्रेष्ठ, भिक्षा इच्छा भर ग्रहण करें ॥३७॥

मुझको न कार्य है भिक्षा से, द्विज! शीघ्र प्रव्रज्या धारणकर।
इस भयावर्त भवसागर में, मत और लगाना तुम चक्कर ॥३८॥

भोगों में बन्धन होता है, होता न लिप्त जो भोग रहित।
भोगी संसार भ्रमण करता, होता विमुक्त जो राग रहित ॥३९॥

सूखे व गीले मिट्टी के, दो गोले फेंके संग गए।
दोनों ही गिरे भीत ऊपर, जा गीले उन पर चिपक गए ॥४०॥

---

१ धर्म का रहस्य समझने वाले।

यों काम लालची जो जन हैं, वे दुर्मति विषयों में लगते ।
चिपके न शुष्क गोलक जैसे, जो राग रहित जग जन होते ।।४१।।

इस प्रकार वह विजयघोष, जयघोष श्रमण के पास वहाँ ।
उस श्रेष्ठ धर्म को सुनकर के, बन गया शीघ्र अनगार यहाँ ।।४२।।

संचित कर्मों को क्षय करके, वे संयम और तपस्या से ।
विजयघोष जयघोष भ्रात, पद सिद्धि मिलाये भव जल से ।।४३।।

●

२६ : समाचारी

मैं समाचारी बतलाऊँ, जो सब दुःखों को देती टार।
निर्ग्रन्थ श्रमण जिनका पालन, कर भवसागर को करते पार ॥१॥

है आवस्सिया पहली गायी, दूजी निसीहिया बतलायी।
है आपृच्छना तीजी कहते, प्रतिपृच्छा चौथी सुखदायी ॥२॥

छन्दना नाम पंचम का है, छट्ठी मर्यादा इच्छा है।
सप्तम को मिथ्याकार कहा, तहकार आठवाँ अच्छा है ॥३॥

उत्थान समाचारी नवमी, दशवी उपसम्पद् समझाई।
प्रभु ने दशांग की मर्यादा, मुनिजन के हित ये बतलाई ॥४॥

आवस्सिया जाते कहना, फिर आते निसीहिया कहना।
आपृच्छा अपने कार्य समय, पर कार्य पुनः पृच्छा करना ॥५॥

छन्दना प्राप्त द्रव्यों से हो, और स्मारण में इच्छाकार कहे।
निन्दा में मिथ्याकार कहा, और श्रवण समय तहकार कहे ॥६॥

उत्थान विनय गुरु पूजा में, उपसम्पद् ज्ञानार्थ रहे।
इस तरह बोल मर्यादा के दश, मुनि जन के हित गए कहे ॥७॥

प्रथम पहर के पूर्व भाग में, सूर्य गगन में उठ जावे।
प्रतिलेखन कर भाण्डादिक, फिर गुरुजन वन्दन कर आवे ॥८॥

फिर हाथ जोड़ पूछे गुरु से, अब क्या करना गुरुवर हमको।
सेवा या स्वाध्याय किसी में, करें नियोजन गुरु मुझको ॥९॥

सेवा करने की आज्ञा हो, अम्लान भाव से वही करे।
सकल दुःख हरने वाले, हो ग्लानिरहित स्वाध्याय करे ॥१०॥

कुशल भिक्षु दिनचर्या में, चार भाग दिन का करके।
उत्तरगुण विधिवत् साध चले, चारों विभाग में मन धरके ॥११॥

प्रथम पहर स्वाध्याय करे, और ध्यान दूसरे में धरलें।
पहर तीसरी भिक्षा हित, चौथी में फिर स्वाध्याय करे ॥१२॥

आषाढ़ मास में दो पद की, और पौष चार पद में होती।
चैत्र और आश्विन त्रिपदी, पौरुषी काल छाया होती ॥१३॥

अंगुल एक सात वासर[1] में, तथा पक्ष में दो अंगुल।
होती है छाया हानि-वृद्धि, प्रत्येक मास से चतुरांगुल ॥१४॥

आषाढ़ भाद्रपद कार्तिक और, हेमन्त होलिका माधव[2] में।
होतीं तिथियाँ क्षय एक-एक, षण्मास पक्ष अंधेरे में ॥१५॥

ज्येष्ठ आषाढ़ और श्रावण छः, भादव आश्विन कार्तिक आठ।
मृगशिर पौष माघ में दश, वैशाख चैत्र फाल्गुन में आठ ॥
इन तथाकथित त्रिक मासों में, पद छाया अंगुल बतलाया।
मुनिजन प्रतिलेखन काल जान, वस्त्रादिक देखे तज माया ॥१६॥

रजनी के भी चार भाग कर, प्राज्ञ श्रमण सत्कार्य करे।
चारों भागों में कार्य भाग[3] कर, उत्तरगुण का ध्यान धरे ॥१७॥

हो प्रथम पहर स्वाध्याय हेतु, और द्वितीय प्रहर में ध्यान धरे।
प्रहर तीसरे में निद्रा, और चौथे में स्वाध्याय करे ॥१८॥

जो पूर्ति करे नक्षत्र निशा, वह चतुर्भाग नभ में आये।
उसके रजनीमुख आने पर, स्वाध्याय विरत मुनि हो जाये ॥१९॥

---

१ वासर=दिन। २ माधव=बैसाख। ३ भाग=बाँट।

नभ के अन्तिम चतुर्भाग में, नक्षत्र वही जब आ जाये ।
वैरात्रिक भी काल जान, स्वाध्याय कार्य में लग जाये ॥२०॥

दिन प्रथमप्रहर के प्रथमभाग में, कर भाण्डों का प्रतिलेखन ।
दुःख मोचक स्वाध्याय करे, कर प्रथम पूज्य गुरु को वन्दन ॥२१॥

पौन पौरुषी के बीते, गुरु के चरणों में वन्दन कर ।
प्रतिक्रमण बिन किये काल का, भाजन का प्रतिलेखन मन धर ॥२२॥

मुँहपत्ती प्रतिलेखन कर, फिर गोच्छग का हो प्रतिलेखन ।
अंगुलि गृहीत गोच्छग वाला, वस्त्रों का करले प्रतिलेखन ॥२३॥

ऊर्ध्वं सुथिर और त्वरारहित, पहले ही पट पर नजर करे ।
फिर जीव हटा झटके पीछे, तीजे परिमार्जन चित्त धरे ॥२४॥

तन, या पट ना अधर झुलावे, मोड़े अनुबन्ध न स्पर्श करे ।
छह पूर्व और नौ खोटक कर, करतल ले प्राणी दूर करे ॥२५॥

छोड़े आरभटा सम्मर्दा, तीसरी मौशली दोष कहा ।
प्रस्फोटना और फिर विक्षिप्ता, वेदिका दोष है षष्ठ रहा ॥२६॥

प्रशिथिल प्रलम्ब लोल एका-मर्शा अनेक संगले धूनना ।
होता प्रमाण में है प्रमाद, फिर करांगुली गणना धरना ॥२७॥

अनतिरिक्त अन्यून तथा, विपरीत न पट का प्रतिलेखन ।
इनमें प्रशस्त पहला विकल्प, और अप्रशस्त है सभी कथन ॥२८॥

प्रतिलेखन करता जो मिलकर, वार्ता या देशकथा करता ।
प्रत्याख्यान कराता पर को, पाठ पढ़ाता या पढ़ता ॥२९॥

पृथ्वी जल एव तेज पवन, वनकाय और है त्रसकायिक ।
प्रतिलेखन में यदि हो प्रमाद, बाधक होता वह षट्कायिक ॥
पृथ्वी जल पावक और पवन, वनकाय और है त्रसकायिक ।
प्रतिलेखन में उपयोग सहित, होता सबका यह आराधक ॥३०॥

पहर तीसरे में मुनिजन, चल भक्तपान हित खोज करे।
छह कारण में कोई कारण, पाकर भिक्षा का ध्यान धरे ॥३१॥

क्षुधा-शान्ति एवं सेवा, ईर्याशोधन संयम - रक्षण।
जीवन रक्षा और धर्म जागरण, हेतु करे मुनि अन्नाशन ॥३२॥

धृतियुत् साधु और साध्वीजन, षट्कारण से ना अशन करे।
हो जिनसे संयम में बाधा, उन स्थानों का त्याग करे ॥३३॥

उपसर्ग और आतंकरोग, फिर ब्रह्मगुप्तिहित सहन करे।
प्राणि-दया और तपोहेतु, तनत्याग हेतु ना अशन करे ॥३४॥

सब भाण्ड और उपकरणों को, लेकर नयनों से देख धरे।
उत्कृष्ट अर्धयोजन सीमा, मुनि ग्राम नगर में भ्रमण करे ॥३५॥

चौथा प्रहर प्राप्तकर मुनिजन, भाण्ड देखकर अलग धरे।
फिर सकल भाव के उद्योतक, शास्त्रों का मुनि स्वाध्याय करे ॥३६॥

फिर चतुःपहर के शेष भाग में, गुरु चरणों में वन्दन कर।
शय्यास्थल देखे ध्यान लगा, स्वाध्याय काल का चिन्तन कर ॥३७॥

प्रस्रवण और उच्चार भूमि का, पुनः करे मुनि प्रतिलेखन।
सब दुःख मुक्त करने वाला, फिर कायोत्सर्ग करे चिन्तन ॥३८॥

चारित्र ज्ञान और दर्शन में, अतिचार लगा जो दिन भर में।
उनका पुनरावर्तन ना हो, चिन्तन अनुक्रम धरले मन में ॥३९॥

कायोत्सर्ग पूर्ण करके, फिर करे प्रेम से गुरुवन्दन।
अतिचार दैवसिक का पीछे, अनुक्रम से करले आलोचन ॥४०॥

दोष शुद्धिकर शल्य रहित हो, गुरु जन का करके वन्दन।
सब दुःख मुक्त करने वाला, फिर कायोत्सर्ग करे मुनिजन ॥४१॥

कायोत्सर्ग पारित करके, गुरुवर को करले फिर वन्दन ।
स्तुति मंगल नित्यकृत्य करके, फिर करे काल का प्रतिलेखन ।।४२।।

प्रथम प्रहर स्वाध्याय और, हो द्वितीय ध्यानका समयनियत ।
प्रहर तीसरे में निद्राले फिर, चौथे में स्वाध्याय नियत ।।४३।।

प्रतिलेखन स्वाध्याय काल का, प्रहर चतुर्थी में करते ।
फिर शान्त चित्त स्वाध्याय करे, गृहि-जन को विन जागृत करते ।।४४।।

फिर पौन पौरुषी के बीते, गुरु के चरणों में कर वन्दन ।
करे काल का प्रतिक्रमण, और करे काल का प्रतिलेखन ।।४५।।

सब दुःख मुक्त करने वाले, उत्सर्गकाल के आने पर ।
सब दुःख विमोचक हेतु पुन, उत्सर्ग करे हर्षित मुनिवर ।।४६।।

चारित्र, ज्ञान और दर्शन में, अतिचार लगा जो जीवन में ।
अनुक्रम से उनका करे ध्यान, रजनी के दोषों का मन में ।।४७।।

कायोत्सर्ग पारित करके, गुरु के चरणों में कर वन्दन ।
अतिचार रात्रि से सम्बन्धित, अनुक्रम से कर ले आलोचन ।।४८।।

कर दोषशुद्धि हो शल्यहीन, फिर गुरु चरणों में वन्दन कर ।
कायोत्सर्ग करे मुनिवर, सब दुःख मुक्ति का सत्पथ धर ।।४९।।

क्या करूँ तपस्या मैं धारण, उत्सर्ग समय यों ध्यान करे ।
करके कायोत्सर्ग पूर्ण, फिर गुरु वन्दन का ध्यान धरे ।।५०।।

कायोत्सर्ग पारित करके, फिर साधु करे गुरु का वन्दन ।
तप को सम्यक् धारण करके, फिर करे सिद्ध संस्तुतिगायन ।।५१।।

संक्षेप रूप से कही यहाँ, मैंने मुनि की समाचारी ।
कर पालन इसका तिरे कई, दुस्तर भवसागर संसारी ।।५२।।

२७ : खलुंकीय

मुनि गर्ग स्थविर गणधर एवं, शास्त्रों के पूर्ण विशारद थे।
वे गुणाकीर्ण गणिपद पाकर, करते समाधि को धारण थे ॥१॥

मार्ग चलाता जो वाहन, कान्तार[1] पार कर जाता है।
संयम योगों में गति करके, संसार पार हो जाता है ॥२॥

जो दुष्ट बैल को जोड़ चले, सागड़ी[2] क्लेश मन पाता है।
असमाधि चित्त वेदन करता, दंडा उसका टुट जाता है ॥३॥

कुपित एक की पूँछ काटता, और वींधता तन बहुवार।
दुष्ट तोड़ता कील जुए की, उत्पथ जाता कर फुँकार ॥४॥

एक पार्श्व से गिर जाता, वा छलकर लेट बैठ जाता।
कूदता उछलता कोई शठ, तरुणी गौ पीछे भग जाता ॥५॥

कपटी मस्तक के बल गिरता, हो कुपित कोई पीछे जाता।
मृतवत् निश्चेष्ट बना गिरता, कोइ तेज दौड़ने लग जाता ॥६॥

तोड़ रास छिन्नाल वृषभ, दुर्दान्त तोड़ता है युग को।
सों सों कर तजता वाहन वह, जाता है भग तज वाहन को ॥७॥

जैसे होते ये दुष्ट बैल, दुःशिष्य समझलो वैसे ही।
दुर्बल धृतिवाले धर्म-यान, जोड़े भग जाते ऐसे ही ॥८॥

---

१. अटवी। २. गाड़ीवान।

करे ऋद्धिगौरव कोई, रस-गौरव कोई मन धरता।
सातासुख का कोई मान करे, चिर काल क्रोधकर खुश होता ॥९॥

आलसी एक भिक्षा में हो, अपमान-भीरु कोई स्तब्ध रहे।
हेतु और कोई कारण से, अनुशासित होकर मार्ग बहे ॥१०॥

अनुशासित अन्तर में बोले, दुर्मेधा अतिशय दोष करे।
आचार्य वचन प्रतिकूल करे, दे युक्ति वचन का काट करे ॥११॥

नहीं जानती वह गृहिणी, ना कुछ भी वह हमको देगी।
जाये कोई वहाँ अन्य, वह निकल गयी बाहर होगी ॥१२॥

भेजे किसी कार्य पर तो, छल कर बोले ना कार्य करे।
चहुँ ओर फिरे गुरु आज्ञा को, बेगार समझ मुख भृकुटि धरे ॥१३॥

दीक्षा शिक्षा दे पढ़ा शास्त्र, दे भक्तपान से पुष्ट किये।
ज्यों हंस पोत कर प्राप्त पंख, दश दिशि जाते त्यों शिष्य गये ॥१४॥

सारथिसम सोचे गणि मन में, खुल्लक[1] संग मिला मुझको।
इनसे मिलता क्या लाभ मुझे, होता है दुःख अन्तर मन को ॥१५॥

ये मूर्ख शिष्य जैसे मेरे, हों गलियों के रासभ वैसे।
गलि-गर्दभ शिष्यों को तजकर, पकडूँ तप का पथ दृढ़ मन से ॥१६॥

अन्तर बाहर मृदुता वाले, गम्भीर समाहित मन वाले।
पृथ्वी पर विचरे गर्ग श्रमण, निर्मल आचारी तप वाले ॥१७॥

---

१. दुष्ट अविनीत शिष्य।

२८ : मोक्ष-मार्ग-गति

मोक्ष मार्ग की सत्य गति, जिन-भाषित भाई सुन लेना।
चार कारणों से संयुत, सद्ज्ञान दर्श लक्षण धरना ॥१॥

श्रद्धा ज्ञान चारित्र और, चौथा कारण है तप जानो।
यह मार्ग बताया जिनवर ने, निर्दोष ज्ञान उनका मानो ॥२॥

ज्ञान और श्रद्धा संयम, तप कारण चौथा बतलाया।
इस पथपर चलकर जीव सुगति, वर पाते जिनवर ने गाया ॥३॥

मार्ग चतुष्टय में पहला है, ज्ञान पंचविध बतलाया।
आभिनिबोधिक श्रुत और अवधि, मनपर्यव केवल मनभाया ॥४॥

सब द्रव्य और गुण पर्याये, ज्ञातव्य जगत में तीन सही।
इन सबको जाने जिस गुण से, है ज्ञान पंचविध पूर्ण वही ॥५॥

है द्रव्य गुणों का जो आश्रय, द्रव्याश्रित विध-विध गुण होते।
जो द्रव्य और गुण के आश्रित, पर्याय रूप वे कहलाते ॥६॥

धर्म-अधर्म, नभ, काल और, पुद्गल, चेतन को द्रव्य कहा।
वरदर्शी जिनवर बतलाते, षड्द्रव्य रूप ही लोक यहाँ ॥७॥

धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य, ये एक-एक ही बतलाये।
है जीव, काल, पुद्गल तीनों, ये द्रव्य अनन्त जग में छाये ॥८॥

गतिलक्षण वाला धर्म कहा, स्थिति लक्षण अधर्म है बतलाया।
सब द्रव्यों का भाजन नभ है, अवकाशदान गुण कहलाया ॥९॥

वर्तना काल का लक्षण है, उपयोग जीव का है लक्षण।
सुख-दुःख ज्ञान-दर्शन गुण से, जीवस्वभाव का है रक्षण ॥१०॥

है दर्शन ज्ञान चारित्र तपस्या, और शक्ति उपयोग जहाँ।
चैतन्य गुणों का वास देख, लक्षण से मानो जीव यहाँ ॥११॥

शब्द तिमिर उद्योत-प्रभा, छाया आतप रस वर्ण तथा।
स्पर्श गन्ध ये पुद्‌गल के, लक्षण है जग में कहे यथा ॥१२॥

एकत्व जुदाई या संख्या, आकार रूप है पुद्‌गल के।
मिलना वियुक्त होना जानो, लक्षण पुद्‌गल पर्यायों के ॥१३॥

जीव अजीव वन्ध आस्रव, और पुण्य पाप दो बतलाये।
और मोक्ष निर्जरा सँवर को, नव तथ्य रूप में है गाये ॥१४॥

यथाभूत इन भावों का, सत्यार्थ कथन है जिनवर का।
अन्तर्मन से श्रद्धा करता, सम्यक्त्व मार्ग है शिवपद का ॥१५॥

निसर्ग वा उपदेशरुचि, आज्ञा - श्रुत - बीजरुचि वैसे।
अभिगम विस्तार क्रिया अष्टम, संक्षेप धर्मरुचि है ऐसे ॥१६॥

उपदेश बिना जो ज्ञान करे, जड़ चेतन कर्म शुभाशुभ का।
निज मति से आस्रव संवर में, हो भाव सहज सद्दर्शन का ॥१७॥

जो द्रव्यादिकजिनदृष्टचतुर्विध, भाव स्वयं ही मान्य करे।
है सत्य वही प्रभु बतलाया, यों निसर्गमति मन भाव धरे ॥१८॥

जिनवर या छद्मस्थ किसी से, कथित भाव को जो माने।
उपदेशजन्य उस श्रद्धा को, उपदेशरुचि ज्ञानी जाने ॥१९॥

अज्ञान मोह और राग द्वेष, जिसका जग में मिट जाता है।
रखता रुचि जो उस आज्ञा में, वह आज्ञारुचि कहलाता है ॥२०॥

जो पढ़कर अंग सूत्र अथवा, श्रुत अंग बाह्य से ज्ञान करे।
सूत्रों से श्रद्धा करता वह, है सूत्ररुचि यह ज्ञात करे ॥२१॥

जो एक सूत्र पद से नाना, वचनों में सम्यक् भाव धरे।
जल में तैल बिन्दु सम वह, बीजरुचि यह नाम धरे ॥२२॥

अर्थरूप जिसने श्रुत को, देखा वह अभिगम रुचिवाला।
अंग इग्यारह और प्रकीर्णक, दृष्टिवाद की मतिवाला ॥२३॥

द्रव्यों के सब भावों को, जो सकल प्रमाणों से जाने।
सम्पूर्ण नयों से ज्ञान करे, विस्ताररुचि वह मुनि माने ॥२४॥

दर्शन ज्ञान चारित्र विनय तप, समिति गुप्ति जो मन धरता।
जो चरण भाव में रुचि रखता, है वही क्रिया रुचि कहलाता ॥२५॥

निष्णात न जो जिन शासन मे, परमत का जिसको ज्ञान नहीं।
मन में कुदृष्टि ने घर न किया, संक्षिप्तरुचि है जान वही ॥२६॥

जो अस्तिकाय का धर्म और, श्रुत चरण धर्म का ज्ञान करे।
जिन कथित भाव पर हो श्रद्धा, वह धर्मरुचि बन जग विहरे ॥२७॥

परमार्थ भाव का परिचय हो, परमार्थ विज्ञ की भक्ति करे।
सम्यक्त्व भ्रष्ट वा मिथ्या मत, वर्जन कर श्रद्धा में विचरे ॥२८॥

सम्यक्त्व बिना चारित्र नहीं, चारित्र विकल्पित दर्शन में।
सम्यक्त्व और चारित्र संग, अथवा सम्यक्त्व पूर्व पद में ॥२९॥

अदर्शनी को ज्ञान नहीं, और ज्ञान बिना गुण चरण नहीं।
निर्गुण को मिलती मुक्ति नहीं, और बिना मोक्ष की शान्ति नहीं ॥३०॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा तज, एवं अमूढ़दृष्टि वाला।
उपबृंहण और स्थिरीकरण, वात्सल्य प्रभावन मन वाला ॥३१॥

चारित्र प्रथम है सामायिक, दूजा छेदोपस्थापन है।
परिहार विशुद्ध है तपसाधन, चौथा कषाय अतिशय लघु है ॥३२॥

यथाख्यात निर्मोह भाव, छद्मस्थ तथा जिनको होता।
करता संचित है कर्मरिक्त, चारित्र वही है कहलाता ॥३३॥

अन्तर बाह्य भेद दो तप के, वीर प्रभु ने बतलाये।
है छः प्रकार का बाह्य और, आन्तर तप भी षड्विध गाये ॥३४॥

है ज्ञान तत्व को जतलाता, दर्शन से श्रद्धा पाता है।
चारित्र कर्म का रोध करे, तप से संचित क्षय होता है ॥३५॥

संयम से आते कर्म रोक, संचित तप से क्षय करते हैं।
सकल दुःख क्षय करने को, ऋषिवर बलवीर्य लगाते हैं ॥३६॥

२९ : सम्यक्त्व पराक्रम

(अ)

उस प्रभु ने कहा, सुना मैंने, सम्यक्त्व पराक्रम का सुविचार।
काश्यप गोत्री प्रभु महावीर, आयुष्मन्! जगती के आधार॥
जिस पर सम्यक् श्रद्धा-प्रतीति, कर विषय स्पर्श और रुचि करके।
स्मृति में रखकर सब स्पर्शितकर, आचरित कर्म कीर्तन करके॥
गुरु निकट शुद्ध उच्चारण कर, अर्थों का सही बोध पाकर।
जैसी अर्हत् की है आज्ञा, वैसा उसका अनुपालन कर॥
होते हैं सिद्ध बहुत प्राणी, और बुद्ध मुक्त भी होते हैं।
करते हैं अन्त दुःख सारे, और परम शान्त वे होते हैं॥

(आ)

उसका यह अर्थ कहा ऐसे, संवेगादिक का फल क्या है?
है बोल तहत्तर पृच्छा के, चिन्तन से अति रस आता है॥
संवेग और निर्वेद धर्म, श्रद्धा गुरु सार्धमिक सेवा।
आलोचन निन्दा वा गर्हा, सामायिक मनका है मेवा॥
चौबीस जिनों की स्तुति वन्दन, प्रतिक्रमण काय का उत्सर्जन।
प्रत्याख्यान स्तव स्तुति मंगल, और काल का प्रतिलेखन॥
प्रायश्चित्त क्षमाराधन, स्वाध्याय वाचना, प्रतिपृच्छन।
परिवर्तन एवं अनुप्रेक्षा, और धर्मकथा श्रुत-आराधन॥
एकाग्रचित्त का संस्थापन, संयम तप और व्यवदान कहा।
सुख साथ और उन्मुक्त भाव, शय्या-आसन जनरहित सदा।
विनिवर्तन और संभोग उपधि, एवं आहार का त्याग जहाँ॥

कटु कषाय और योग त्याग, एवं शरीर का त्याग जहाँ।
हो सहाय का त्याग और, भक्तों का भी होता वर्जन ॥
सद्भाव त्याग प्रतिरूपतादि, एवं हो वैयावृत्य ग्रहण।
सब गुण से पूर्ण वीतरागी, और क्षान्ति मुक्ति मृदुता-ऋजुता।
हो भाव योग और करण सत्य, एवं मानस की गोपनता ॥
वचन गुप्त और कायगुप्त, एवं मनधारित हो समता।
वचन - शरीर समाधारण, हो ज्ञान पूर्ण यह मानवता ॥
हो दर्शन चारित्र पूर्णता, एवं श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह।
चक्षु - घ्राण - जिह्वा - इन्द्रिय, और स्पर्शेन्द्रिय का भी निग्रह ॥
क्रोध मान माया एवं, लोभ भाव पर रहे विजय।
राग द्वेष मिथ्या दर्शन, इन सब पर होवे सदा विजय ॥
कर्म - शून्यता शैलेशी, की स्थिति से यह जीवन चमके।
ये हैं द्वार तिहत्तर इसके, कर पालन जग जन चमके ॥

(इ)

पाकर संवेग भदन्त ! कहें, क्या जीव यहाँ पर पाता है ?
यह जीव अनुत्तर धर्मरुचि, संवेग भाव से पाता है ॥
जिससे करता है प्राप्त शीघ्र, संवेग अधिक वह जीवन में।
होता है माया मान लोभ, और तीव्र क्रोध भी क्षय क्षणमें ॥
संचय न करे नव कर्मों का, जग में कषाय-क्षय होने से।
मिथ्यात्व विशोधन से करता, दर्शन आराधन मति बल से ॥
दर्शन विशोधि के होने से, उस भव में कोई सिद्ध होते।
यदि कर्म शेष हो तो भी ना, भवतीजे का लंघन करते ॥१॥

भन्ते ! निर्वेद भाव पाकर, यह जीव यहाँ क्या पाता है ?
वह ग्लानि देव नर तिर्यंचों के, काम भोग में पाता है ॥
इससे जग के सब विषयों से, वह नर विरक्त हो जाता है।
जिससे बहुविध आरम्भों का, वह परित्याग कर जाता है ॥
आरम्भ त्याग करने वाला, भव पथ का छेदन है करता।
जिससे वह सहज सुलभता से, शिव पथ में बढ़ता है जाता ॥२॥

धार्मिक श्रद्धा के होने से, भन्ते ! क्या जीव यहाँ पाता ।
साता-सुख में रति वाला नर, मन में विरक्ति है पा लेता ॥
देता वह त्याग गृहस्थी को, और बन जाता अनगार यहाँ ।
सब छेदन-भेदन छोड़ छाड़, करता सेवन तप कार्य यहाँ ॥
संयोग वियोगादिक जितने हैं, शारीरिक और मानस दुःख ।
करता उनका विच्छेद और, पाता निर्बाध जगत में सुख ॥३॥

गुरु साधर्मिक सेवा से, यह जीव कहो क्या पाता है ?
साधर्मिक सेवा करके वह, शुभ विनय धर्म को पाता है ॥
विनयशील परिवाद और, अविनय गुरु जन का ना करता ।
इसलिए नैरयिक नर तिर्यक्, सुर-दुर्गति का वारण करता ॥
श्लाघा और गुण का प्रकाश, बहुमान और भक्ति द्वारा ।
सम्बन्ध जोड़ता है अपना, मानव और देव सुगति द्वारा ॥
करता प्रशस्त पथ सिद्धि सुगति, और विनय मूल शुभ कामों को ।
करता है सिद्ध विनय पथ पर, लाता है आगे परजन को ॥४॥

गुरु सन्मुख भूल निवेदन कर, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
और आलोचन के बिना जीव, जग में क्या हानि उठाता है ॥
इससे अनन्त भव के वर्द्धक, और मोक्षमार्ग बाधाकारी ।
मिथ्यादर्शनरूप शल्य, माया-निदान जो दुःखकारी ॥
उनको निकालकर दूर करे, ऋजुभाव जगत में पाता है ।
और प्राप्त हुए ऋजुभाव व्यक्ति, माया-विहीन हो जाता है ॥
इसलिए नपुंसक नारी का, वह नहीं वेद बन्धन करता ।
यदि पहले से हों बँधे हुए, तो निश्चय उनका क्षय करता ॥५॥

भन्ते ! निन्दा अपनी करके, प्राणी क्या जग में है पाता ?
अपनी निन्दा करके प्राणी, अनुताप हृदय में कर पाता ॥
होकर विरक्त उसके द्वारा, गुण श्रेणी धारण वह करता ।
गुण-श्रेणि करण गुण गण की कर, धारण मुनिव्रत वह कर लेता ॥
अनगार मार्ग पर चलकर वह, निज मोह कर्म को क्षय करता ।
मोह क्षीण हो जाने से फिर, परम शान्ति सुख वह पाता ॥६॥

गुरु के समक्ष कर भूल प्रकट, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है।
गर्हा से प्राणी अपुरस्कार, का भाव जगत में पाता है ॥
अपुरस्कार से अप्रशस्त, कर्मों से पीछा फिर जाता।
शुभ योग प्राप्त कर फिर प्राणी, मन में प्रमोद को पा लेता ॥
वह प्रशस्त योगी गृह त्यागी, अन्तर में ज्योति जगा लेता।
अनन्तघाति कर्मदलिक का, क्षपण त्वरित है कर देता ॥७॥

समभाव साधना से भन्ते !, यह जीव यहाँ क्या पाता है।
सामायिक से असत् योग की, विरति जीव पा लेता है ॥८॥

अर्हत् की स्तवना करने से, भन्ते ! क्या जीव यहाँ पाता।
अर्हत् स्तवना करने वाला, दर्शन विशोधि को है पाता ॥९॥

भन्ते ! वन्दन से जीव कहो, इस जगती में क्या पाता है।
वन्दन से नीच गोत्रदायक, कर्मों को क्षीण बनाता है ॥
कुल आदि उच्च देने वाले, कर्मों का अर्जन करता है।
जिससे कुल गौरव हो न क्षीण, उन सब का वर्जन करता है ॥
सौभाग्य अखण्डित आज्ञा फल, दाक्षिण्य भाव वह पाता है।
जिसको पाकर अत्यन्त हर्ष से, मन उसका भर जाता है ॥१०॥

भन्ते ! कर प्राणी प्रतिक्रमण, क्या जगती में है पाता।
इसके द्वारा व्रत छेदों को, अनायास है ढँक देता ॥
व्रत छिद्रों को भरने वाला, आस्रव को यहाँ रोक देता।
एवं चारित्रिक धब्बों को, वह अपने आप मिटा देता ॥
आठों ही प्रवचन माता में, अति सावधान वह रहता है।
संयम रत समाधिस्थ सम्यक्, होकर विहार कर जाता है ॥११॥

कायोत्सर्ग करके प्राणी, क्या है इस भूतल में पाता।
वर्तमान और भूतकाल का, पाप विशोधन है करता ॥
जैसे तज भार भारवाही, अति स्वस्थ हृदय हो जाता है।
वैसे प्रशस्त ध्यान रत हो, सुख से वह विचरण करता है ॥१२॥

भन्ते ! प्रत्याख्यान भाव से, क्या जग जीव प्राप्त करता।
इससे वह आस्रव द्वारों का, है सहज निरोध सदा करता ॥१३॥

भन्ते ! स्तव संस्तुति मंगल से, यह जीव यहाँ क्या पाता है।
इससे सद्दर्शन ज्ञान चरित, का बोधि-लाभ वह करता है ॥
रत्नत्रय के बोधिलाभ से, हो सम्पन्न विवेकी नर।
अन्त क्रिया करके आराधन, या वैमानिक होते सुर ॥१४॥

भन्ते ! कालिक प्रतिलेखन से, यह जीव यहाँ क्या है पाता ?
वह ज्ञानावरण कर्म को इससे, क्षीण जगत् में कर जाता ॥१५॥

भन्ते ! कर प्रायश्चित्त जीव, क्या इस जगती में है पाता ?
कर प्रायश्चित्त से पाप शुद्धि, वह निरतिचार है हो जाता ॥
कर सम्यक् प्रायश्चित्त मनुज, सम्यक्त्व ज्ञान निर्मल करता।
आचार और उसके फल का, है सम्यक् आराधन करता ॥१६॥

भन्ते ! क्षमादान करके, यह जीव जगत् में क्या पाता ?
है क्षमादान से मानस की, अतिशय प्रसन्नता वह पाता ॥
मानस प्रसन्नता को पाकर, सब प्राण भूत और जीवों के।
सत्त्वों के साथ करे मैत्री, जिससे विशुद्ध निर्भय होते ॥१७॥

भन्ते ! कर स्वाध्याय जीव यह, क्या इस जग में फल पाता ?
इससे ज्ञानावरण कर्म को, पूर्ण क्षीण है कर लेता ॥१८॥

सूत्र वाचना से भन्ते, प्राणी क्या जग में पाता है ?
अज्ञान कर्म को हल्का कर, श्रुत-आशातन से बचता है ॥
अनाशातना वर्तमान, कर तीर्थधर्म का अवलम्बन।
जिन शासन की दीप्ति बढ़ाने, वाचन में होता तन्मन ॥१९॥

प्रति प्रश्नों के करने से, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
करके सूत्रों की प्रतिपृच्छा, सूत्रार्थ शुद्ध कर पाता है ॥
पृच्छा और प्रतिपृच्छा से, संशय को दूर हटाता है।
कांक्षा मोहनीय कर्मों का, फिर विनाश कर पाता है ॥२०॥

सूत्रों के पुनरावर्तन से, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
परावर्तना से प्राणी, अक्षर संयोग मिलाता है ।।
परिपक्व पाठ करके फिर वह, विस्मृत की याद बढ़ाता है ।
व्यंजन लब्धि कर प्राप्त ज्ञान, श्रुत को निर्मल कर पाता है ।।२१।।

भन्ते ! अनुप्रेक्षा से प्राणी, क्या इस जग में फल पाता है ?
आयु कर्म को छोड़ प्रकृति, दृढ़ बन्धन शिथिल बनाता है ।।
सप्त कर्म की चिरकालिक, स्थिति अल्पकाल कर देता है ।
उनके तीव्र सकल अनुभव को, मन्दरूप कर देता है ।।
बहु प्रदेश को कर देता है, अल्प प्रदेश में परिवर्तन ।
करता स्यात् नहीं भी करता, आयु कर्म का वह बन्धन ।।
असात वेदनीय का बहुश', उपचय वह यहाँ नहीं करता ।
अनाद्यनन्त भव-वन का पथ, लघुकर वह शीघ्र पार करता ।।२२।।

भन्ते ! धर्मकथा से प्राणी, लाभ कहो क्या पाता है ?
करके कर्म निर्जरा एवं, जिन शासन द्युति फैलाता है ।।
प्रवचन प्रभाव करने वाला, आगे इस जगती में चलता ।
कल्याणक फल देने वाले, कर्मों का अर्जन है करता ।।२३।।

भन्ते ! श्रुत के आराधन से, प्राणी क्या जग में है पाता ?
करता है अज्ञान नष्ट, संक्लेशों से वह बच जाता ।।२४।।

एकाग्र चित्त धारण कर भन्ते, प्राणी क्या जग में पाता है ?
मन को एकाग्र बनाने से, मन का निरोध हो जाता है ।।२५।।

भन्ते ! संयम को धारण कर, प्राणी क्या जग में पाता है ?
संयम आराधन से प्राणी, आस्रव निरोध कर जाता है ।।२६।।

भन्ते ! तप के आराधन से, प्राणी क्या जग में पाता है ?
तप से कर संचित कर्मक्षीण, प्राणी विशुद्धि पा जाता है ।।२७।।

हे भदन्त ! व्यवदान भाव से, जीव यहाँ क्या पाता है ?
व्यवदान भाव से अक्रियता, चांचल्य योग का जाता है ।।
अक्रिय-कर्म रहित होकर, फिर सिद्ध बुद्ध और मुक्त यहाँ ।
करता परिनिर्वाण प्राप्त, सब दुःखों का कर अन्त यहाँ ।।२८।।

सुख की स्पृहा निवारण कर, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
इससे विषयों के प्रति जग में. वह अनौत्सुक्य पा जाता है ।।
विषयों की उत्सुकता तज के, अनुकम्पा जो नर रखता है ।
होकर प्रशान्त और शोकमुक्त, वह मोहनीय क्षय करता है ।।२९।।

भन्ते ! मन की अनासक्ति से, जीव यहाँ क्या पाता है ?
अप्रतिबद्ध भाव धारण कर, वह असंग हो जाता है ।।
जीव अकेला संग रहित हो, एक चित्त हो जाता है ।
त्याग अहर्निश बाह्य भाव, निर्लेप भाव से चलता है ।।३०।।

कर सेवन एकान्त स्थान, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
निर्दोष स्थान से संयम का, सम्यक् रक्षण कर पाता है ।।
चारित्र सुरक्षक वह सदोष, आहारों का वर्जन करता ।
इससे चारित्र सुदृढ़ होता, एकान्त रमण वह कर पाता ।।
सदा शुद्ध मन से प्राणी, वह मोक्ष साधना में लगकर ।
अष्टकर्म की गाँठों का, भंजन करता दृढ़ बल को धर ।।३१।।

इन्द्रिय और मन को विषय दूर, कर भन्ते ! क्या प्राणी पाता ।
विनिवर्तन से वह नये पाप, ना करने को तत्पर होता ।।
कर दूर पुराने पापों को, वह शीघ्र नष्ट कर देता है ।
फिर चतुर्गतिक अन्तक भव-वन, का पार शीघ्र पा जाता है ।।३२।।

संभोग त्याग करने वाला, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
सहयोग त्याग से वह जग में, अवलम्बन से हट जाता है ।।
मोक्षार्थ सभी उसके प्रयत्न, हैं पर अवलम्बन का त्यागी ।
मिलता भिक्षा में जो कुछ भी, रहते मुनि उसके अनुरागी ।।

पर निमित्त से लब्ध द्रव्य में, वे लेते हैं स्वाद नहीं।
करते ना उसकी स्पृहा प्रार्थना, चाह हृदय में धरे नहीं ॥
पर प्राप्त कभी भिक्षान्नों में, आस्वाद न लेता व्रती वहाँ।
रखता न चाह उसकी मन में, पर-लाभ स्पृहा ना करे यहाँ ॥
प्रार्थना तथा अभिलाषा भी, इस जग में परकी ना करता।
पाकर वह दूजी सुख शय्या, निस्पृह मन से विचरण करता ॥३३॥

उपधि त्याग से क्या प्राणी, भन्ते ! इस जग में है पाता ?
उपधिहीन स्वाध्याय ध्यान के, अन्तराय से बच जाता ॥
उपधिरहित कांक्षा से हटकर, होता जगती में शोक मुक्त।
उसको अलाभ पाकर न कभी, संक्लेश हृदय को करता तप्त ॥३४॥

आहार त्याग करके प्राणी, भन्ते ! क्या जग में है पाता ?
लम्बे जीवन की इच्छा को, इससे वह यहाँ काट देता ॥
जीवन की इच्छा का जिसने, विच्छेद किया अन्तर्मन में।
करता न कभी संक्लेश प्राप्त, आहार बिना वह जीवन में ॥३५॥

करके कषाय का त्याग जीव, भन्ते ! क्या जग में है पाता ?
कषाय त्यागी जन जग में, है वीतराग का पद पाता ॥
वीतरागता को पाकर, वह हर्ष शोक से बच जाता।
होकर अजातरिपु इस जग में, सुख-दुख में सम मन हो जाता ॥३६॥

भन्ते ! योग त्यागकर प्राणी, क्या इस जग में है पाता ?
योग त्याग से आत्म अकंपन, तुम मन में कम्प नहीं करता ॥
जीव अयोगी नव कर्मों का, कभी नहीं करता अर्जन।
कर देता है क्षीण पूर्व, अर्जित कर्मों को भी तत्क्षण ॥३७॥

भन्ते ! देह त्याग से प्राणी, क्या इस जग में है पाता ?
मुक्तात्मा के अतिशय गुण को, इसके द्वारा वह पा जाता ॥
सिद्धों के अतिशय गुण पाकर, वह ऊर्ध्व गमन से भव तजकर।
परम सुखी हो जाता है, लोकाग्र स्थान शुभतम पाकर ॥३८॥

भन्ते ! जीव सहाय त्यागकर, इस जग में क्या है पाता ?
इससे एकाकी भाव युक्त, प्राणी इस भव में हो जाता ।।
एकाकी असहाय जीव, एकाग्र भाव साधन करता ।
करके अभ्यास सदा कोलाहल-रव से वह जन बच जाता ।।
वाचिक कलह कषाय मुक्त, तू-तू मैं-मैं में ना पड़ता ।
संयमबहुल, बहुल सँवर, और स्थिर समाधि में हो जाता ।।३९।।

भन्ते ! भक्त त्याग सेवन कर, प्राणी क्या जग में है पाता ?
इससे अनेक शत जन्म मरण का, वह निरोध है कर जाता ।।४०।।

सद्भाव त्याग करके प्राणी, भन्ते ! क्या जग में है पाता ?
इससे वह तन मन वाणी की, कुछ भी प्रवृत्ति ना कर पाता ।।
अनिवृत्ति को पा मुनिजन, केवलि-संस्थित चौकर्मों को ।
वेदनीय और आयु नाम, करता है क्षीण गोत्र पद को ।।
इसके पीछे वह सिद्ध बुद्ध, और मुक्त यहाँ हो जाता है ।
परिनिर्वाण प्राप्त होता, और अन्त सकल दुःख हरता है ।।४१।।

स्थविरकल्प सम रूप धार, भन्ते ! क्या जीव यहाँ पाता ?
प्रतिरूपत्व प्राप्तकर वह, हल्कापन को है पा जाता ।।
उपधि अल्पता से हल्का हो, अप्रमत्त हो जाता है ।
प्रकट और शुभ लिंग धार, सम्यक्त्व शुद्ध कर लेता है ।।
अविकल सत्त्व समितिधर मुनि, सब प्राण-भूत और जीवों के ।
विश्वसनीय रूप होते वे, पार्थिवादि जग जीवों के ।।
परम जितेन्द्रिय हो जाता, प्रतिलेखन थोड़ा रह जाता ।
विपुल समिति एवं तप का, परिपूर्ण समागम हो जाता ।।४२।।

साधु संघ की सेवा से, भन्ते ! क्या जीव यहाँ पाता ।
इससे तीर्थंकर नाम गोत्र का, वह अर्जन है कर जाता ।।४३।।

सब गुण से सम्पन्न जीव, भन्ते ! क्या इस जग में पाता ।
इस गुण को धारण कर प्राणी, अविचल शिव पद को पा जाता ।।
जिसको मिल जाती मुक्ति यहाँ, वह परम सुखी है हो जाता ।
शारीरिक मानस दुःखों से, छुटकारा फिर तो पा जाता ।।४४।।

वीतरागता धारण कर, भन्ते ! क्या लाभ जीव पाता ?
इससे तृष्णा और स्नेहों के, बन्धन का छेदन हो जाता ॥
शुभ अशुभ भाव को वीतराग, मन से अन्तर है तज देता ।
शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श से, मन विरक्त है बन जाता ॥४५॥

भन्ते ! क्षमा भाव से प्राणी, क्या इस जग में है पाता ।
क्षमाभाव से परिषहों पर, विजय प्राप्त वह कर जाता ॥४६॥

भन्ते ! प्राणी निर्लोभ भाव, पाकर जग में क्या है पाता ?
इससे जीव अकिंचनता को, सहज रूप में पा जाता ॥
कभी अकिंचन प्राणी को, अर्थी जन गण ना प्यार करे ।
नही चाह के योग्य अकिंचन, माया त्यागी ना भीति धरे ॥४७॥

भन्ते ! ऋजुता को धारण कर, है जीव यहाँ पर क्या पाता ?
इससे तन मन भाषा में, सारल्य भाव है आ जाता ॥
सरल भाव के प्राणी में, तन मन में आर्जव आ जाता ।
आर्जव गुण से युक्त जीव, फिर धर्माराधक बन जाता ॥४८॥

भन्ते ! मृदुता को धारण कर, है जीव यहाँ पर क्या पाता ?
उद्धतता तज मृदु मन से, कोमलता जग में पा जाता ॥
जीव अनुद्धत मानस मृदु, मार्दव संयुत जग में रहकर ।
मद के आठ पदों को क्षण में, क्षयकर देता है हँसकर ॥४९॥

भाव सत्य धारण कर भन्ते, जीव जगत में क्या पाता ?
भाव सत्य से भाव शुद्धता, को प्राणी है पा जाता ॥
इसमें वर्तमान प्राणी, अर्हत् - मत - आराधन-तत्पर ।
होकर बन जाता आराधक, परलोक धर्म का वह सत्वर ॥५०॥

भन्ते ! करण सत्य पालन कर, जीव जगत् में क्या पाता ?
करण सत्य से कार्यशक्ति को, प्राणी जग में पा जाता ॥
करण सत्य में वर्तमान, प्राणी जैसा मुख से कहता ।
निश्छल भाव हृदय में धर, वह कार्य सदा वैसा करता ॥५१॥

भन्ते ! योग सत्य धारण कर, जीव यहाँ पर क्या पाता ?
योग सत्य से देह वचन मन, क्रिया शुद्धि है कर जाता ।।५२।।

भन्ते ! मनोगुप्तता से, प्राणी क्या जग में पाता ?
मनोगुप्ति एकाग्र भाव का, उत्तम साधन बन जाता ।।
एकाग्रचित्त संकल्प अशुभ से, निज मन की रक्षा करता।
एवं संयम का आराधक, वह भूतल पर समझा जाता ।।५३।।

भन्ते ! वचन गुप्तता से, क्या जीव यहाँ पर है पाता ?
वचन गुप्ति से निर्विकारता, भाव जगत में पा जाता ।।
निर्विकार होकर यह प्राणी, वचन गुप्त हो जाता है।
अध्यात्म योग के साधन से, फिर ध्यान गुप्त बन जाता है ।।५४।।

कायगुप्तता धारणकर, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
कायगुप्तता से प्राणी, जीवन में संवर पाता है ।।
संवर के द्वारा कायगुप्त, प्राणी फिर जग में क्या करता ।
फिर पापास्रव का वह निरोध, है अनायास हो कर जाता ।।५५।।

भन्ते ! मन आगम भावों में, धारण कर प्राणी क्या पाता ?
श्रुत में मन को स्थित करने से, एकाग्र भाव स्थिर हो जाता ।।
पाकर के एकाग्र भाव, वह ज्ञानपर्यवों को पाता ।
जिससे सम्यक् दर्शन विशुद्ध, हो मिथ्या दर्शन हट जाता ।।५६।।

भन्ते ! स्वाध्याय निरत वाणी से, प्राणी क्या जग में है पाता ?
वाक्-साधारण दर्शनपर्यव, को विशुद्ध है कर जाता ।।
दर्शनपर्यव को कर विशुद्ध, वह सुलभ बोधिता पा लेता ।
दुर्लभ बोधि कर्म निर्जर कर, भव भ्रमण अल्पतम कर देता ।।५७।।

भन्ते ! कायिक समा धारणा से प्राणी क्या है पाता ?
संयम में काया धारण से, चारित्र शुद्धि है कर जाता ।।
वीतरागपद पाकर के, फिर यथाख्यात निर्मल करता ।
जिससे केवलि-सत्क-चतुष्टय, कर्मों का क्षय कर देता ।।

फिर बनता है सिद्ध बुद्ध, और मुक्त अन्त में हो जाता ।
कर निर्वाण प्राप्त जग में, सब दुःख अन्त है कर लेता ।।५८।।

भन्ते ! होकर सम्पन्न ज्ञान, क्या प्राणी है जग में पाता ?
सम्पन्न ज्ञान हो सकल पदार्थों, का है सहज ज्ञान पाता ।।
ज्ञान युक्त होकर प्राणी, गति अन्त चतुष्टय जग बन में ।
पड़कर भी नष्ट नहीं होता, एवं चलकर भी भव मग में ।।
जैसे सूत्र सहित सूची, गिरके भी होती नष्ट नहीं ।
वैसे ससूत्र प्राणी जग में, रह कर भी होते नष्ट नहीं ।।
सम्पन्न ज्ञान तप ज्ञान विनय, चारित्र योग को पाता है ।
निज पर समय बोध कारण, प्रामाणिक माना जाता है ।।५९।।

भन्ते ! दर्शन सम्पन्न व्यक्ति, इस जगती में क्या है पाता ?
दर्शन सम्पन्न भव मूल रूप, मिथ्यादर्शन छेदन करता ।।
इससे आगे चलकर उसका, है ज्ञान प्रकाश नहीं बुझता ।
आत्मा से परम ज्ञान दर्शन, संयोजन कर विहरण करता ।।६०।।

चारित्र पूर्णता से भन्ते !, यह जीव यहाँ क्या है पाता ?
शैलेशी भाव प्राप्त कर प्राणी, गिरि सम संयम में स्थिर रहता ।।
करता शैलेशी श्रमण क्षीण, केवलिगत कर्म चतुष्टय को ।
आयुष्य नाम और गोत्र तथा, शुभ वेदनीय के दलिकों को ।।
इसके पीछे वह सिद्ध बुद्ध, और पूर्ण मुक्त हो जाता है ।
पा परिनिर्वाण भाव पीछे, सब दुःख अन्त कर लेता है ।।६१।।

भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह से, प्राणी क्या जग में पाता है ?
शुभ अशुभ शब्द पर निग्रह से, सब राग द्वेष टल जाता है ।।
शब्द जनित वह राग द्वेषवश, करता नहीं कर्म बन्धन ।
संयम बल से वह पूर्वबद्ध, कर्मों का क्षय करता प्रतिक्षण ।।६२।।

भन्ते ! नयनेन्द्रिय निग्रह से, यह जीव जगत् में क्या पाता ?
शुभ अशुभ रूप पर निग्रह से, मन राग द्वेष है मिट जाता ।।

वह रूप निमित्तक राग द्वेष, वश करता नहीं कर्म बन्धन ।
और उस निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ।।६३।।

भन्ते ! घ्राणेन्द्रिय निग्रह से, यह जीव जगत में क्या पाता ?
शुभ अशुभ गन्ध पर निग्रह से, वह राग द्वेष से बच जाता ।।
वह गन्ध निमित्तक रागद्वेषवश, करता नहीं कर्म बन्धन ।
और उस निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ।।६४।।

भन्ते ! रसनेन्द्रिय निग्रह से, प्राणी क्या जग में है पाता ?
शुभ अशुभ रसों पर निग्रह से, बस राग द्वेष से बच जाता ।।
वह रस निमित्त के राग द्वेष, वश करता नहीं कर्म बन्धन ।
और उस निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ।।६५।।

भन्ते ! स्पर्शेन्द्रिय निग्रह से, प्राणी क्या जग में हैं पाता ?
शुभ अशुभ स्पर्श के निग्रह से, बस राग द्वेष है दब जाता ।।
स्पर्श निमित्तक राग द्वेषवश, करता नहीं कर्म बन्धन ।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ।।६६।।

भन्ते ! क्रोध विजय से प्राणी, क्या इस जग में सुख पाता ?
है क्रोध विजय से क्षमाभाव को, वह जीवन में धर पाता ।।
क्रोध वेदनीय कर्मों का, करता वह जीव नहीं बन्धन ।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ।।६७।।

भन्ते ! मान-विजय से प्राणी, क्या इस जग में है पाता ?
मान-विजय से मृदुता का, गुण प्राणी में है आ जाता ।।
मान मोह का इस जग में, वह करता नहीं कर्म बन्धन ।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ।।६८।।

भन्ते ! माया विजय प्राप्त कर, प्राणी क्या जग में पाता ?
माया विजय मिलाकर प्राणी, ऋजुता गुण को है पा लेता ।।
माया वेदनीय कर्मों का, करता नहीं जीव बन्धन ।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ।।६९।।

भन्ते ! लोभ-विजय से प्राणी, क्या इस जग में है पाता।
लोभ जीत संतोष भाव को, इस जगती में वह पाता ।।
लोभ वेदनीय कर्मों का, करता नहीं जीव बन्धन।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ।।७०।।

प्रेयदोष मिथ्या दर्शन के, जय से क्या प्राणी पाता ?
दर्शन ज्ञान चरण पालन के, लिए जीव उद्यत होता ।।
अष्टकर्म में ग्रन्थि-विमोचन, हेतु यहाँ तत्पर होता।
पूर्णक्षीण कर सका न जिसको, क्रमशः उसे क्षीण करता ।।
पाँच ज्ञान नव दर्शन की, और अन्तराय के पाँचों को।
तीनों को करता क्षीण संग, इन विद्यमान सब कर्मों को ।।
उसके पीछे अतिश्रेष्ठ पूर्ण, वितिमिर अनन्तऔरनिरावरण।
परिशुद्ध लोक एवं अलोक, दोनों का करता अवलोकन ।।
करते वे केवलज्ञान तथा, केवलदर्शन का उत्पादन।
जब तक वह यहाँ सयोगी हो, तब तक ईर्यापथि का बन्धन ।।
सुख स्पर्श प्रकृति का बन्धन है, दो समय मात्र स्थिति है होती।
और समय तीसरा पाकर के, निर्जीव दशा उसकी होती ।।
होता जग में वह कर्म-बद्ध, और पुट्ठ उदय में है आता।
भोगा जाता और नष्ट अन्त, क्षण में अकर्म भी हो जाता ।।७१।।

केवल पद आयु पालन कर, और भोग शेष वेदन करता।
अन्तर्मुहूर्त परिमाण आयु, रहने पर योग रोध करता ।।
उस समय सूक्ष्म-क्रिय अप्रतिपातिक. शुक्ल ध्यान रत बन जाता।
वह मनोयोग और वचन योग, दोनों निरोध क्रमशः करता ।।
उच्छ्वास और निःश्वासों का, पीछे निरोध है कर लेता।
उसके पीछे अ इ उ ऋ लृ का, जितने में उच्चारण है होता ।।
उस स्वल्प काल तक समुच्छिन्न, क्रिय अनिवृत्त में रत होता।
अनगार चतुष्टय सत्कर्मों का, क्षीण करण तत्पर रहता ।।७२।।

फिर पीछे औदारिक कार्मण, सब विप्रहानि से तन तज कर।
सरल श्रेणि अस्पृष्ट गति से, सिद्धि मिलाता शिव पाकर ॥
ज्ञान भाव से बुद्ध मुक्त, लोकाग्र पहुँचकर स्थिर होता।
एक समय की गति से वह, भव त्याग गमन शिवपद करता ॥
प्राणी होने से सिद्ध पूर्व, करता है गति ऋजु श्रेणी से।
उसकी गति ऊपर को होती, नभ प्रदेश की श्रेणी से ॥
सम्यक्त्व पराक्रम पूर्वकथित, यह अर्थ वीर प्रभु से दर्शित।
आख्यात प्ररूपित प्रज्ञापित, और वीर श्रमण से उपदर्शित ॥७३॥

३० : तपोमार्ग गति

जैसे राग द्वेष से संचित, पाप कर्म को मुनि तप से ।
करता क्षीण एक मन कर, श्रवण करो तुम वह मुझसे ।।१।।

हिंसा झूठ तथा चोरी, धन संग्रह एवं मैथुन से ।
होता आस्रव रहित जीव, रजनी में भोजन विरमण से ।।२।।

पंच समिति से समित गुप्त, अकषाय जितेन्द्रिय गर्वरहित ।
हो जाता है जीव अनास्रव, कर अपने को शल्य रहित ।।३।।

इनसे उलट कर्म करके, जो राग द्वेष से बन्ध किया ।
करता क्षीण भिक्षु जैसे, सुन मैंने प्रभु से धार लिया ।।४।।

जैसे बड़े जलाशय का, कर द्वार-बन्द जल आगम का ।
रवि तापयाकि उत्सेचन से, क्रम से शोषण होता जल का ।।५।।

ऐसे ही संयत पुरुषों के, पापास्रव के रुक जाने से ।
संचित करोड़ भव कर्म राशि, होती विनष्ट तप साधन से ।।६।।

तप दो प्रकार का बतलाया, बाह्याभ्यन्तर जानो ऐसे ।
षड्विधि का बाह्य कहा तप है, आभ्यन्तर भी समझो वैसे ।।७।।

अनशन एवं ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या रस-परिवर्जन ।
काय-कष्ट संलीन भाव, षड्भेद बाह्य तप के साधन ।।८।।

सावधिक और निरवधि ऐसे, अनशन युग-विधि का बतलाया ।
साकांक्ष कहा तप अल्पकाल, निष्कांक्ष दूसरा बतलाया ।।९।।

संक्षिप्त रूप से छः प्रकार, इत्वरिक तपस्या के होते।
श्रेणि, प्रतर और घन तीजा, तूर्य वर्ग तप कह गाते ॥१०॥

वर्ग-वर्ग पंचम तप है, छट्ठा प्रकीर्ण तप शासन में।
ये इत्वर तप के भेद कहे, मन इच्छित फल देता क्षण में ॥११॥

मरण समय का अनशन भी, है द्विविध शास्त्र में बतलाया।
सविचार काय चेष्टा वाला, अविचार उलट दूजा गाया ॥१२॥

सपरिकर्म वा अपरिकर्म, दो भेद यहाँ इनके होते।
निर्हारी और अनिहारी, दोनों में अशन त्याग होते ॥१३॥

द्रव्य क्षेत्र और काल भाव, और पर्यायों के कारण से।
अवमोदर पंच प्रकार कहा, संक्षिप्त सूत्र की वाणी से ॥१४॥

जितना अनुमित भोजन जिसका, उससे कमकर यदि वह खाता।
अवमौदर्य द्रव्य मे हो, जो जघन्य कण भी कम होता ॥१५॥

ग्राम नगर या राजधानि, आकर पल्ली या निगमस्थल।
खेडा कर्वट और द्रोण-पन्थ, मण्डप पत्तन संबाध सबल ॥१६॥

सन्निवेश आश्रमपद में, संवर्त कोट या सार्थों में।
सेना के शिविर बिहार घोष, वा स्थली समाज के लोगों में ॥१७॥

पाड़ा रथ्या या घर में, ऐसे वा इतने उस स्थल में।
मिले द्रव्य तो ग्रहण करें, यह नियम क्षेत्र ऊनोदर में ॥१८॥

पेडा तथा अर्धपेडा, गोमूत्रिका पतंगवीथी जैसे।
शंखावर्त दीर्घ-जा आना, छट्ठी चर्या जानो ऐसे ॥१९॥

दिन के चारों प्रहरों में, भिक्षाहित समय विचार किया।
उसमें भिक्षा लेते व्रत का, कालावमान यह नाम दिया ॥२०॥

अथवा पहर तीसरी के, कुछ शेष रहे भिक्षा लेवे।
चतुर्भाग हो शेषकाल, ऊनोदर तप मुनिवर सेवे ॥२१॥

यदि दाता नर वा नारी हो, भूषण सज्जित या अनलंकृत।
हो अमुक अवस्था का धारी, या अमुक वस्त्र से हो संयुत ॥२२॥

अमुक दशा या वर्ण भावयुत, ग्रहण करूँ जो दे दाता।
ऐसी चर्या वाले मुनि का, भावोनोदर तप है होता ॥२३॥

द्रव्य क्षेत्र और काल भाव में, कहे गये जो भाव यहाँ।
उनसे ऊन विचरना वह, पर्यवचारी मुनि गिनो वहाँ ॥२४॥

आठ भेद के गोचराग्र, यों सात एषणाएँ गाईं।
और अन्य अभिग्रह जो ऐसे, भिक्षाचर्या हैं कहलाईं ॥२५॥

दूध दही घृत आदि तथा, अतिशय प्रणीत पानक भोजन।
रस वाले द्रव्यों का वर्जन, तप कहलाता है रस वर्जन ॥२६॥

वीरासन आदिक आसन जो, है मानव के हित सुखदाई।
करें उग्र आसन धारण, तन क्लेश तपस्या बतलाई ॥२७॥

एकान्त तथा आपात रहित, स्त्री पशु पंडक से शून्य स्थल।
शयनासन का सेवन करना, तप साधन हेतु कहा निर्मल ॥२८॥

बहिरंग तपस्या को षड्विध, संक्षिप्त रूप से बतलाया।
अन्तर के तप को कहता अब, सुनलो क्रम से तुम सुखदाया ॥२९॥

प्रायश्चित्त[1] विनय वैयावच्च, चौथा है स्वाध्याय खरा।
ध्यान और व्युत्सर्ग नाम, आभ्यन्तर तप भव-अन्तकरा ॥३०॥

---

१ भाव-ऊनोदरी तप के भेद।

आलोचनार्ह आदिक दश विध, व्रत शोधन को तप बतलाये।
सम्यक् वहन करे जिसका मुनि, पायच्छित्त तप वह गाये ।।३२।।

वृद्धों के हित जो उठना, अंजलि कर आसन का देना।
गुरु की भक्ति या शुश्रूषा, है विनयधर्म यह बतलाना ।।३३।।

आचार्य आदि दश विध जन में, सम्बन्धित सेवा मन धरना।
यथास्थान सेवन करना, है वैयावृत्ति तप बतलाना ।।३४।।

वाचन पृच्छा वा अनुवर्तन, अनुप्रेक्षा चौथा भेद रहा।
है धर्मकथा प्रवचनदीपक, स्वाध्याय पंच विध सूत्र कहा ।।३५।।

आर्त्त रौद्र को तज करके, स्थिर मन से जो सद्ध्यान करे।
धर्म-शुक्ल में स्थिर, होना बुध ध्यान तपस्या चित्त धरे ।।३६।।

बैठे उठे और सोए, जो कायवृत्ति का त्याग करे।
काया का व्युत्सर्ग भेद, छट्ठा श्रोता जन ध्यान धरे ।।३७।।

यों द्विविध तपस्या को सम्यक्, जो संत सदा आचरण करे।
वह शीघ्र सभी जग बन्धन से, पा मुक्ति, मुक्ति में जा विचरे ।।३८।।

३१ : चरण विधि

चरण मार्ग का कथन करूँ मैं, जो जीवों को सुखदायी।
जिसका कर आचरण बहुत जन, तिरे भवोदधि दुःखदायी ॥१॥

करे एक से विरति और, शुभ एक प्रवर्तन सुखकर है।
हो दूर असंयम वर्तन से, संयम में चलना हितकर है ॥२॥

राग-द्वेष दो मूल पाप हैं, इनसे पापकर्म बढ़ते।
इनका जो मुनि रुँधन करते, वे न जगत् में हैं रहते ॥३॥

गौरव दंड शल्य तीनों, ये त्रिविध भेद कर बतलाये।
वर्जन इनका जो करे सदा, वह भिक्षु न जग में रह पाये ॥४॥

देव तथा तिर्यंच मनुज कृत, उपसर्गों को जो सहता।
नित्य सहन करने वाला, वह भिक्षु नहीं जग में रहता ॥५॥

विकथा कषाय एवं संज्ञा, और आर्त रौद्र वर्जन करता।
जो इन्हें दूर मन से करता, वह भिक्षु नहीं जग में रहता ॥६॥

इन्द्रिय विषय क्रियावर्जन में, समिति व्रतों के पालन में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग में ॥७॥

छः लेश्याओं छः कायों, और अशन ग्रहण के कारण में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न रहता भव-बन में ॥८॥

अशन ग्रहण की प्रतिमाओं में, तथा सप्त भय स्थानों में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न रहता भव-वन में ॥९॥

ब्रह्मगुप्ति नव आठ मदों में, मुनि के दशविध धर्मों में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न रहता है जग में ॥१०॥

उपासकों की प्रतिमाओं, और भिक्षु जनों की प्रतिमाओं में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग में ॥११॥

तेरह क्रिया वा भूतग्राम में, परमाधार्मिक सुरगण में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग में ॥१२॥

सूत्रकृतांग के षोडश में, एवं सकल असंयम में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग में ॥१३॥

ब्रह्मचर्य ज्ञाताध्ययनों, और असमाधि के स्थानों में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग में ॥१४॥

जो इक्कीस शबल दोषों में, और परीषह बाईस में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग में ॥१५॥

सूत्रकृतांग के अध्ययनों में, रूपाधिक चौबीस देवों में।
मन से सदा यत्न करता जो, भिक्षु न रहता है जग में ॥१६॥

जो पच्चीस भावनाओं, छब्बीस दशादि उद्देशों में।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता है जग में ॥१७॥

जो सत्ताईस साधु गुणों में, एवं आचार प्रकल्पों में।
मन से सदा यत्न करता, वह भिक्षु न रहता है जग में ॥१८॥

उनतीस पाप प्रसंगों में, और तीस मोह के स्थानों में।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता है जग में ॥१९॥

सिद्धादिक गुण योगों में, तेंतीस आसातन स्थानों में।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता है जग में ॥२०॥

इस प्रकार इन स्थानों में, जो भिक्षु सदा श्रम करता है।
वह पण्डित शीघ्र सकल जग के, बन्धन से विमुक्त हो जाता है ॥२१॥

●

३२ : प्रमाद-परित्याग

चिरकालिक मूलसहित सब दुःख, का मोचन मार्ग कहा प्रभु ने ।
कहूँ उसे लो एकचित्त सुन, हित वाणी हित को पाने ॥१॥

होता है प्रकट ज्ञान सारा, अज्ञान मोह के वर्जन से ।
हो राग-द्वेष का क्षय पूरा, एकान्त सौख्य मिलता इससे ॥२॥

है मार्ग मुक्ति का गुरु सेवा, वर्जन हो बाल-बोध जन का ।
निश्चय स्वाध्याय निसेवन हो, सूत्रार्थ मनन धृतिबल मन का ॥३॥

समाधिकामी श्रमण करे, परिमित निर्दोष अशन इच्छा ।
मुनि निपुण बुद्धि का संग करे, निर्दोष स्थान भी हो अच्छा ॥४॥

जो मिले न कोई निपुण संग, गुण से बढ़कर या समगुणधर ।
एकाकी पाप बचा करके, विचरे मन विषयों से हटकर ॥५॥

जैसे बक अण्डे से होता, और अण्ड बलाका से होता ।
ऐसे ही मोह सदन तृष्णा, और तृष्णा से मोह उदय होता ॥६॥

है राग-द्वेष दो कर्म बीज, और कर्म मोह से होता है ।
है जन्म-मरण का मूल कर्म, जनु मरण दुःख कहलाता है ॥७॥

जिसको न मोह है दुःख मिटा, है नष्ट मोह तृष्णा न जिसे ।
तृष्णा मेटी तो लोभ नहीं, जब लोभ गया कुछ भी न उसे ॥८॥

राग-द्वेष और मोहकर्म के, मूल मिटाने वालों से ।
जो उपाय करने होते, उनको मैं कहता हूँ क्रम से ॥९॥

रस का अतिसेवन करे नहीं, रस मन को उत्तेजित करता।
चंचल को देते काम कष्ट, ज्यों सुफल वृक्षपर खग घिरता ॥१०॥

इन्धन अनिल संग वन में, दावानल शान्त नहीं होता।
ऐसे विषयानल अतिभोजी, जन को न कभी हितकर होता ॥११॥

एकान्त शयनआसन- यन्त्रित, लघुभोजी इन्द्रियजित् जन को।
ना राग शत्रु दे कष्ट उसे, जैसे औषधजित् रुज तन को ॥१२॥

जैसे बिल्ली के पास वास, चूहों का सुखद नहीं होता।
ऐसे ही ब्रह्मव्रती जन का, नारी-गृहवास न शुभ होता ॥१३॥

ना श्रमण तपस्वी नारी के, लावण्य हास इंगित जल्पन।
वीक्षण विलास रख के मन में, प्रमदा छवि का न करे दर्शन ॥१४॥

ब्रह्मचर्य में लीन व्रती के, नारी दर्शन चिन्तन वर्णन।
करना न कभी हितकर निशदिन, है आर्यध्यान यह शास्त्रवचन ॥१५॥

त्रिगुप्ति-गुप्त मुनि को विचलित, कर सके न सज्जित देवी भी।
एकान्त लाभ के हेतु जान, है वास विविक्त कहा फिर भी ॥१६॥

भव-भीरु धर्मस्थित मोक्षार्थी, के लिए न कुछ ऐसा दुस्तर।
जैसा बाल मनोहारी, नारी का नेह, विजय दुष्कर ॥१७॥

जो विषय संग को पार किया, फिर शेष विजय सुखकर होता।
जैसे सागर तिर जाने पर, गंगा का पार सहज होता ॥१८॥

है काम-गृद्धि उत्पन्न दुःख, सब देव सहित जगती-जन के।
कायिक या मानस जो कुछ भी, पाते जिनदेव अन्त उस के ॥१९॥

जैसे किंपाक भक्षण के क्षण, रस-वर्ण मनोरम होते हैं।
पर पीछे करता प्राण हरण, यों विषय जगत् में होते हैं ॥२०॥

जो इन्द्रिय के हैं रुचिर विषय, उनमें ना मुनि मन ललचाएँ।
और अशुभ विषय में शान्तिकाम, संयत मन खेद नहीं लाएँ ॥२१॥

रूप चक्षु का ग्रहण कहा, शुभराग हेतु वह होता है।
है अशुभ दोष का हेतु कहा, दोनों में जिन सम रहता है ॥२२॥

है चक्षु रूप का ग्रहण हेतु, और रूप चक्षु का विषय कहा।
समनोज्ञ राग का हेतु तथा, अमनोज्ञ दोष का हेतु कहा ॥२३॥

रुचिररूप में मूर्छित जो, वह क्षय अकाल में है पाता।
रागी पतंग सम ज्योति लुब्ध, है दीप शिखा में जल जाता ॥२४॥

जो भी कुरूप पर दोष धरे, उस क्षण में वह दुःख पाता है।
दुर्दान्त निजी दूषण से ही, अपराध रूप ना करता है ॥२५॥

एकान्त रक्त शुभ रूपों में, अपरूपों में जो द्वेष धरे।
वह बाल दुःख पीड़ा पाता, ना मुनि विराग मन लेप धरे ॥२६॥

रूपों का पीछा करके नर, अति त्रस स्थावर हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ़ उन्हें, अनुतप्त और पीड़ित करता ॥२७॥

रूपानुराग और संग्रह से, उत्पादन रक्षण करता है।
सहसा व्यय और वियोग दुःख, ना भोग समय सुख पाता है ॥२८॥

हो अतृप्त जो रूप-ग्रहण में, रंजित मन पाता तोष नहीं।
असंतोष से दुःखी वना, लोभाकुल हरता द्रव्य वही ॥२९॥

तृष्णावश हार करे चोरी, होता अतृप्त छवि पाने में।
पा लोभ बढ़े माया मिथ्या, हो मुक्त नहीं दुःख पाने में ॥३०॥

झूठ बोलते आगे-पीछे, अतिदुःखी प्रयोग में होता है।
यों रूप अतृप्त दुःखी आश्रय-बिन पर धन सदा चुराता है ॥३१॥

कब कैसे किंचित् सुख होगा, जो नर है रूपासक्त यहाँ।
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमें भी पाता सौख्य कहाँ ॥३२॥

यों द्वेष रूप में जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दुःखमय होता है ॥३३॥

हो शोक-रहित जो रूप विरत, विधविध दुःखों से लिप्त नहीं।
भव पुष्करिणी मे शतदलसम, अघ जल से पाता लेप नहीं ॥३४॥

शब्द श्रोत्र का विषय, रागका हेतु मनोज्ञ कहा जाता।
है द्वेष हेतु अमनोज्ञ उभय में, वीतराग सम हो रहता ॥३५॥

शब्दों का ग्राहक श्रोत्र कहा, है शब्द श्रोत्र का ग्रहण बड़ा।
वह राग हेतु समनोज्ञ और, अमनोज्ञ दोष का हेतु कड़ा ॥३६॥

शब्दों मे आसक्त तीव्र, बिन समय नाश वह है पाता।
रागातुर मुग्ध हरिण जैसे, वह निधन तृप्ति बिन है पाता ॥३७॥

प्रतिकूल शब्द में तीव्र दोष, करता तत्क्षण वह दुःख पाता।
है उसका दुर्दम दोष हेतु, अपराध शब्द ना कुछ करता ॥३८॥

अतिरिक्त रुचिर शब्दों में जो, प्रतिकूलों में वह रोष धरे।
वह बाल दुःख पीड़ा पाता, मुनि हो विरक्त ना राग करे ॥३९॥

शब्दभिलाष अनुरागी नर, चर अचर जीव हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ़ उन्हें, अनुतप्त और पीड़ित करता ॥४०॥

शब्दानुराग और ममता से, उत्पादन भोग तथा रक्षण।
व्यय और वियोग में सौख्य कहाँ, उपभोग काल ना मन तर्पण ॥४१॥

शब्दार्थी संग्रह में रहता, आसक्त तोष पाता न कहीं।
अतृप्ति-दुःखी परधनहारी, लोभी मन में संकोच नहीं ॥४२॥

तृष्णाभिभूत करता चोरी, ना तृप्त शब्द के पाने में।
पा लोभ बढ़े माया मिथ्या, हो मुक्त नहीं दुःख पाने में ॥४३॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अतिदुःखी प्रयोग में होता है।
यों शब्द अतृप्त दुःखी आश्रय, बिन परधन सदा चुराता है ॥४४॥

कब कैसे किंचित् सुख होगा, जो नर है शब्दासक्त यहाँ।
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमें भी पाता सौख्य कहाँ ॥४५॥

यों द्वेष शब्द में जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दुःखमय होता है ॥४६॥

शब्द विरत-गत शोक हुआ, विधविध दुःखों से लिप्त नहीं।
भव पुष्करिणी में शतदलसम, अघ जल से पाता लेप नहीं ॥४७॥

है गन्ध घ्राण का विषय, रागका हेतु मनोज्ञ कहा जाता।
अमनोज्ञ द्वेष का हेतु उभय में, वीतराग सम हो रहता ॥४८॥

गन्धों का घ्राण ग्रहण करता, घ्राणों का गन्ध विषय भारी।
है रुचिर राग का हेतु कहा, अरुचिर मनको है दुःखकारी ॥४९॥

आसक्त सुघड़ गन्धों में जो, वह क्षय असमय में है पाता।
रागातुर औषधि गन्ध-गृद्ध, अहिसमबिल बाहर हो मरता ॥५०॥

यों द्वेष गन्ध में जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दुःखमय मिलताहै ॥५१॥

एकान्त रक्त शुभ गंधों में, दुर्गन्धों में जो द्वेष धरे।
वह बाल दुःख पीड़ा पाता, ना मुनि विरक्त मन लेप करे ॥५२॥

गन्धों की इच्छा धर के नर, अतित्रस स्थावर हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ़ उन्हें, अनुतप्त और पीड़ित करता ॥५३॥

गन्धानुराग और संग्रह से, उत्पादन रक्षण भोग करे।
व्यय और वियोग से दुःख पावे, ना भोग समय भी तृप्ति धरे ॥५४॥

हो अतृप्त नर गन्ध ग्रहण में, रंजित मन पाता तोष नहीं।
यों असंतोष से दुःखी बना, लोभाकुल हरता द्रव्य वही ॥५५॥

तृष्णावश हार करे चोरी, ना तृप्त गन्ध के पाने में।
पा लोभ बढ़े माया मिथ्या, हो मुक्त नहीं दुःख पाने में ॥५६॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अतिदुःखी प्रयोग में होताहै।
यों गन्ध अतृप्त दुःखी आश्रय, बिन परधन सदा चुराता है ॥५७॥

गन्धानुरक्त नर को जग में, कैसे कुछ होता सौख्य यहाँ।
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमें भी पाता सौख्य कहाँ ॥५८॥

यों द्वेष गन्ध में जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दुःखमय होताहै ॥५९॥

हो शोक रहित जो गन्ध विरत, विधविध दुःखोंसे लिप्त नहीं।
भव पुष्करिणी में शतदलसम, अघजल से पाता लेप नहीं ॥६०॥

जिह्वा का रस विषय राग, का हेतु मनोज्ञ कहा जाता।
है द्वेष हेतु अमनोज्ञ उभय, में वीतराग सम हो रहता ॥६१॥

रसना रसभाव ग्रहण करती, रस रसना का है ग्राह्य महा।
समनोज्ञ राग का हेतु और, है दोष हेतु अमनोज्ञ कहा ॥६२॥

शुभ रस में जो आसक्त मनुज, बिन समय नाश है वह पाता।
रागातुर मांस विदीर्ण देह, ज्यों मत्स्यमांस रुचि दुःख पाता ॥६३॥

जो नीरस पर अति दोष धरे, उस क्षण में वह दुःख पाता है।
दुर्दान्त निजी दूषण से ही, अपराध नहीं रस करता है ॥६४॥

एकान्त रक्त शुभ स्वादों में, नीरस में जो अतिरोष धरे।
वह मूढ़ दुःख पीड़ा पाता, ना विरक्त मुनि मन लेप करे ॥६५॥

शुभ रस की इच्छा लेकर जो, चर अचर जीव हिंसा करता।
विधविध रूपों से तप्त करे, निज स्वार्थ मुख्य पीड़ा करता ॥६६॥

रस में प्रीति और संग्रह से, उत्पादन रक्षण भोग करे।
व्यय और वियोगमें दुःखपाता, ना भोग काल भी तृप्ति धरे ॥६७॥

हो अतृप्त रस भाव ग्रहण में, रंजित मन पाता तोष नहीं।
यों असंतोष से दुःखी बना, लोभाकुल हरता द्रव्य वही ॥६८॥

तृष्णावश हार करे चोरी, होकर अतृप्त रस पाने में।
पा लोभ बढ़े माया मिथ्या, हो मुक्त नहीं दुःख पाने में ॥६९॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अति दुःखी प्रयोग में होता है।
असंतुष्ट रस हरण करे, आश्रय बिन दुःख उठाता है ॥७०॥

अब कैसे किंचित् सुख होगा, जो बना स्वाद आसक्त यहाँ।
जिस भोग हेतु दुःख पाता है, उसमें भी पाता सौख्य कहाँ ॥७१॥

रखता है द्वेष रसों में जो, नानाविध दुःख उठाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल दुःखमय उसका पाता है ॥७२॥

गत शोक विरत रस होता है, दुःखों से होता लिप्त नहीं।
भव पुष्करिणी में शतदलसम, अघ जल से पाता लेप नहीं ॥७३॥

है स्पर्शकाय का विषय कहा, समनोज्ञ राग के हेतु कहे।
है द्वेष हेतु अमनोज्ञ उभय में, वीतराग समभाव रहे ॥७४॥

स्पर्शों का काय ग्रहण करता, है स्पर्श विषय तन का भारी।
है रुचिर राग का हेतु कहा, अरुचिर हृदय को भयकारी ॥७५॥

स्पर्शों में तीव्र चाह करता, बिन समय नाश को पाता है।
रागी शीतलजलमग्नमहिषसम, ग्राह ग्रसित हो मरता है ॥७६॥

जो अशुभ स्पर्श में तीव्र दोष, करता तत्क्षण वह दुःख पाता।
है अपना दुर्दम दोष हेतु, अपराध न स्पर्श वहाँ करता ॥७७॥

अनुरक्त रुचिर स्पर्शों में जो, प्रतिरूप स्पर्श में दोष धरे।
वह बाल दुःख पीड़ा पाता, मुनि हो विरक्त न राग करे ॥७८॥

स्पर्शाभिलाष अनुगामी नर, चर अचर जीव हिंसा करता।
गुरुमान स्वार्थ को मूढ़ उन्हें, अनुतप्त और पीड़ित करता ॥७९॥

स्पर्शानुराग और ममता से, उत्पादन भोग तथा रक्षण।
व्यय और वियोगमें सौख्य कहाँ, उपभोग काल ना मन तर्पण ॥८०॥

स्पर्शार्थी हो संग्रह करता, आसक्त तोष पाता न कहीं।
बिन तृप्ति दुःखित परधनहारी, लोभी मन में संकोच नहीं ॥८१॥

तृष्णावश हार करे चोरी, ना तृप्त स्पर्श को पाने में।
पा लोभ बढ़े माया मिथ्या, हो मुक्त नहीं दुःख पाने में ॥८२॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अति दुःखी प्रयोग में होता है।
यों स्पर्श अतृप्त दुःखी आश्रय, बिन परधन सदा चुराता है ॥८३॥

कब कैसे किंचित् सुख होगा, जो नर है स्पर्शासक्त यहाँ।
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमें भी पाता सौख्य कहाँ ॥८४॥

यों द्वेष स्पर्श में जो करता, नानाविध दुःख उठाता है।
प्रद्वेषी कर्म बन्ध करता, फल उसका दुःखमय पाता है ॥८५॥

है स्पर्श विरत गत शोक हुआ, विधविध दुःखों से लिप्त नहीं।
भव पुष्करिणी में शतदलसम, अघ जल से पाता लेप नहीं ॥८६॥

है भाव चित्त का विषय राग, का हेतु मनोज्ञ है कहलाता।
है द्वेष हेतु अमनोज्ञ उभय में, वीतराग सम हो रहता ॥८७॥

भावों को चित्त ग्रहण करता, है मन का भाव विषय भारी।
है रुचिर राग का हेतु तथा, यों अशुभ हेतु दूषणकारी ॥८८॥

भावों में तीव्र चाह वाला, बिन समय नाश को पाता है।
रागातुर करिणी मार्ग लीन, दन्ती जैसे तन खोता है ॥८९॥

जो अशुभ भाव में तीव्र दोष, करता तत्क्षण वह दुःख पाता।
उसका ही दुर्दम दोष हेतु, अपराध न भाव वहाँ करता ॥९०॥

आसक्त रुचिर भावों में जो, और दोष अशोभन में करता।
वह मूढ़ दुःख पीड़ा पाता, न लिप्त विरक्त श्रमण होता ॥९१॥

भावाभिलाष अनुगामी नर, चर अचर जीव हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ़ उन्हें, अनुतप्त और पीड़ित होता ॥९२॥

भावानुराग की ममता से, उत्पादन भोग तथा रक्षण।
व्यय और वियोगमें सौख्य कहाँ, उपभोग काल ना मन तर्पण ॥९३॥

हो अतृप्त नर भाव ग्रहण में, रंजित मन पाता तोष नहीं।
बिन तृप्ति दुःखित परधन हरते, लोभी मन में संकोच नहीं ॥९४॥

तृष्णावश हार करे चोरी, ना तृप्त भाव के पाने में।
या लोभ बढे मायामिथ्या, हो मुक्त नहीं दुःख पाने में ॥९५॥

झूठ बोलते आगे पीछे, वह दुःखी प्रयोग में होता है।
यों भाव अतृप्त दुःखी आश्रय, बिन परधन सदा चुराता है ॥९६॥

कब कैसे किंचित् सुख होगा, जो नर है भावासक्त यहाँ।
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमें भी पाता सौख्य कहाँ ॥९७॥

यों द्वेष भाव में जो धरता, वह दु:खको क्रमिक प्राप्त करता ।
है द्वेषी करता कर्म वन्ध, फल उसका दु:खमय है पाता ।।९८।।

है भाव विरत नर शोक मुक्त, विध-विध दु:खोंसे लिप्त नहीं ।
भव पुष्करिणी में शतदल सम, अघ जल से पाता लेप नहीं ।।९९।।

इन्द्रिय और मन के विषय यहाँ, रागी को दु:ख कारण होते ।
वे वीतराग के लिए नहीं, थोड़े भी दु:खदायी होते ।।१००।।

समता के हेतु न कामभोग, है नहीं विकार हेतु होते ।
उनके प्रति जिनके राग द्वेष, वे मोह विवश विकृत होते ।।१०१।।

क्रोध मान माया भय अरति, लोभ जुगुप्सा तथा रति ।
हर्ष शोक एवं नानाविध, नर-स्त्री-पंडक भाव गति ।।१०२।।

जो काम गुणों में सक्त पुरुष, वह विविध विकारों को पाता ।
नरकादि कष्ट से दीन-हीन, लज्जित अप्रिय हो दु:ख सहता ।।१०३।।

सेवाहित चाहे शिष्य नहीं, अनुताप न तप फल चाह करे ।
इच्छा से इन्द्रिय वश होकर, अगणित विकार को प्राप्त करे ।।१०४।।

फिर मोहोदधि मे गिरवाने विषयेच्छा उनको होती है ।
सुख-अर्थी दु:ख मिटाने को, उसमें उद्यम मति जगती है ।।१०५।।

विरक्त मन वाले जन को, शब्दादि विषय जितने सारे ।
अच्छे न उसे होते प्यारे, अमनोज्ञ नहीं होते खारे ।।१०६।।

हैं राग द्वेष ही दोष मूल, ना इन्द्रिय विषय करे चिन्तन ।
'माध्यस्थ भाव चिन्तन करते, कामेच्छा घटती है प्रतिक्षण ।।१०७।।

वह वीतराग कृतकृत्य बना, ज्ञानावरोध को नष्ट करे ।
दर्शन रोधक और अन्तराय, कर्मों को क्षण में क्षीण करे ।।१०८।।

सब जग को जाने और देखे, निर्मोह विघ्न जय करवावे।
अनास्रवी और ध्यान युक्त, कर पूर्ण आयु शिव पद पावे ॥१०९॥

जीवों को सतत कष्ट देते, जगती के उन सब दुःखों से।
हो जाता मुक्त प्रशंसनीय, बहु सुखी कृतार्थ सकल मन से ॥११०॥

चिरकाल जात सब दुःखों का, है मोक्ष मार्ग यह बतलाया।
हो जाते क्रमशः जीव सुखी, जिसने इसको है अपनाया ॥१११॥

●

३३ : कर्म-प्रकृति

अष्ट कर्म का क्रमिक करूँ मैं, अनुपूर्वी से विश्लेषण।
जिनसे बँधकर यह जीव यहाँ, अनुपल करता है परिवर्तन ॥१॥

ज्ञानावरण और दर्शन, आवारक कर्म भयंकर है।
है वेदनीय और मोह भुलाता, आयुष बन्धन कारक है ॥२॥

नाम और है गोत्रकर्म, फिर अन्तराय वैसे जानो।
इन आठों कर्मों का यों ही, संक्षिप्त रूप वर्णन मानो ॥३॥

है ज्ञानावरण पंच भेदक, श्रुत आभिनिबोधिक ज्ञान यहाँ।
अवधि और मनःपर्यव, केवल का रोके ज्ञान वहाँ ॥४॥

निद्रा तथैव निद्रा-निद्रा, प्रचला दर्शन को रोक रहे।
प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि, ये आवारक विध पंच कहे ॥५॥

चक्षु अचक्षु अवधि एव, केवल दर्शन के आच्छादन।
इस तरह जान लो नव विकल्प, यह कर्म दूसरे का वर्णन ॥६॥

हैं वेदनीय के युगल भेद, सुख और असाता कहलाता।
साता के विविध भेद ऐसे, दुःख भी नाना रूपक होता ॥७॥

हैं मोहनीय के मुख्य भेद, दर्शन चारित्र दूषित करते।
दर्शन को त्रिविध कहा प्रभु ने, चारित्र युगल विध हैं कहते ॥८॥

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भेद, तीजा सम्यक् मिथ्या जानो।
ये तीन प्रकृतियाँ बतलायीं, दर्शन मोहक की पहचानो ॥९॥

चारित्र मोलन करने वाला, है कर्म युगल विध बतलाया ।
है कषाय एवं नौ कषाय, युग चरण मोह प्रभु ने गाया ॥१०॥

हैं सोलह भेद कषायों के, जिनवर आगम में बतलाते ।
और नौ कषाय के भेद सात, या नव हास्यादिक कहलाते ॥११॥

हैं आयुकर्म के चार भेद, जिनवर सूत्रों में बतलाते ।
नारक तिर्यक् मनुजायु तथा, देवायु चतुर्थ को हैं गाते ॥१२॥

नाम कर्म के युगल भेद, शुभ अशुभ विश्व में बतलाये ।
हैं भेद बहुत शुभ के ऐसे, ही अशुभ नाम भी हैं गाये ॥१३॥

गोत्र कर्म भी युगल रूप में, उच्च नीच यों कहलाते ।
हैं उच्च गोत्र के अष्ट भेद, यों नीच गोत्र के भी गाते ॥१४॥

दान लाभ उपभोग भोग, और वीर्य प्रगट ना हो जिससे ।
संक्षिप्त रूप में पाँच भेद, सत्कर्म नहीं होवे जिससे ॥१५॥

है मूल और उत्तर विध से, कर्मों की बात कही सारी ।
है प्रदेशाग्र और क्षेत्रकाल, भावों की सुनलो तैयारी ॥१६॥

सबही कर्मों के प्रदेशाग्र, है अनन्त ग्रहणायोग्य यहाँ ।
ग्रन्थिक सत्वों से अधिक और, है न्यून सिद्ध से अनन्त वहाँ ॥१७॥

संग्रह योग्य कर्म जीवों के, सभी दिशा में सुस्थित है ।
सभी प्रदेशों में होते ये, कर्म पूर्ण सम्बन्धित है ॥१८॥

तीस कोटि-कोटि सागर, परिमितस्थिति परम कही उनकी ।
अन्तर्मुहूर्त की स्थिति होती, न्यूनातिन्यून उन कर्मों की ॥१९॥

दोनों ही आवरणों की, और वेदनीय की स्थिति जानो ।
फिर विघ्न कर्म का भी इतना, ही काल स्थिति को पहचानो ॥२०॥

मोहनीय की परम स्थिति है, सत्तर कोटि-कोटि सागर।
न्यूनातिन्यून अन्तर्मुहूर्त, का काल कहा है मतिसागर ।।२१।।

सागर तेंतीस की उपमा से, उत्कृष्ट स्थिति है जीवन की।
अन्तर्मुहूर्त है अल्पकाल, बतलायी ज्ञानी ने जग की ।।२२।।

है नाम गोत्र की परम स्थिति, विंशति-विंशति कोटिक सागर।
होती है उसकी अल्पस्थिति, आठ मूहूर्त इस जगती पर ।।२३।।

भाग अनन्तवें सिद्धों के, अनुभाग कर्म हैं बतलाते।
अनुभागों के वे सब प्रदेश, सब जीवों से बढ़कर होते ।।२४।।

सब कर्मों के अनुभागों का, यों परिचय पा जग में बुधजन।
इनके संवरण और क्षय में, प्रतिपल करते हैं पूर्ण यतन ।।२५।।

●

३४ : लेश्या

लेश्याओं का कथन करूँ, पूर्वानुपूर्वी से क्रमिक यथा।
षट् संख्यक उन लेश्याओं के, अनुभाव सुनो तुम यथा-तथा ॥१॥

लेश्याओं के नाम वर्ण, रस गन्ध स्पर्श परिणाम कथन।
लक्षण आयु स्थितिस्थान गमन, मुझसे तुम विधिवत् करो श्रवण ॥२॥

कृष्ण नील कापोत तेज, है जग में पद्मा शुक्ल तथा।
ये नाम क्रमिक लेश्याओं के, श्रीवीर प्रभु ने कहे यथा ॥३॥

स्निग्ध-मेघ और महिष शृंग, समवर्ण अरीठा के जानो।
खंजन अंजन और नयन बिन्दु, यों कृष्ण वर्ण से पहचानो ॥४॥

वर्ण अशोक सम नीली का, हो चाष विहग के जैसे पर।
वैडूर्य स्निग्ध सम वर्ण कहा, लेश्या नीली का है श्रुतधर ॥५॥

अलसी के पुष्प पंख कोयल, एवं कपोत की ग्रीवा ज्यों।
होती हैं कापोती लेश्या, कापोत वर्ण जगती पर यों ॥६॥

हिंगुल गैरिक नव उदित सूर्य, सम होती इसकी लाल प्रभा।
तेजोलेश्या का वर्ण कहा, शुक तुण्ड समझलो दीप निभा ॥७॥

हरिताल और हल्दी खण्डित, सण और असन के कुसुम निभा।
जगती में अतिशय शुभ जानो, पद्मा लेश्या की पीत प्रभा ॥८॥

शंख अंकमणि कुन्द कुसुम, पयपूर की जैसे शुभ्र प्रभा।
रजत हार सी धवल कान्ति, शुक्ला लेश्या है स्फटिक निभा ॥९॥

जैसे कटु तुम्बे का रस, कटु नीम रोहिणी रस जानो।
इनसे अनन्त गुण होता है, कृष्णा लेश्या का रस मानो ॥१०॥

त्रिकटु और गजपीपल का, तीखा रस जैसा होता है।
उससे भी अनन्त गुणा जानो, नीली लेश्या का लगता है ॥११॥

अपक्व आम्र तूवर कपित्थ, जैसा खट्टा रस होता है।
इससे भी अनन्त गुणा खट्टा, कापोती का रस लगता है ॥१२॥

परिपक्व आम्र या रसकपित्थ, जैसा खटमिट्ठा होता है।
इससे भी अनन्त गुणा जानो, तेजो का रस कष होता है ॥१३॥

विविधासव श्रेष्ठ सुरा जैसा, मधु-मैरेयक रस मम जानो।
होता है अनन्त गुणा इससे, पद्मा का मादक रस मानो ॥१४॥

जैसे खजूर द्राक्षा शक्कर, रस खांड क्षीर मधु होता है।
उससे भी अनन्त गुणा मीठा, शुक्ला का भी रस होता है ॥१५॥

जैसे मृत श्वान सर्प गौ की, तन-गंध अशुभतर होती है।
उससे दुर्गन्धि अनन्त गुणी, तीनों पहली में होती है ॥१६॥

जैसी सुगन्ध शुभ कुसुमों की, पीसे सुवास की जो होती।
उससे भी बढ़कर शुभ लेश्या, तीनों की गन्ध सुरभि होती ॥१७॥

करवत या जैसा शाक पत्र, गोजिह्वा कर्कश स्पर्श यथा।
उससे अनन्तगुण अप्रशस्त, लेश्या का होता स्पर्श तथा ॥१८॥

जैसे स्पर्श बूर का मृदु, मक्खन शिरीष[1] कोमल जानो।
उससे भी अमितगुण मृदुल-स्पर्श, शुभ लेश्याओं का है मानो ॥१९॥

नव तीन सत्ताईस इक्यासी, दो सौ तैंतालीस भेद यहाँ।
परिणाम कहे लेश्याओं के, होते ऐसे कई भेद यहाँ ॥२०॥

---

१ सिरीष—पुष्प।

पंचास्रव में लगा हुआ, और गुप्ति अगुप्त षट्तन अविरत।
संलग्न तीव्र आरम्भों में, जो क्षुद्र साहसिक नर कलिरत ।।२१।।

परलोक भीति शंका-विहीन, अजितेन्द्रिय निर्दय जो नर है।
इन सब योगों से युक्त कृष्ण, लेश्या में होता रतिकर है ।।२२।।

अतपी अमर्षयुत् ईर्ष्यालु, निर्लज्ज मूढ़ मायावी जो।
आसक्त द्वेषकारी प्रमत्त, रस लोलुप-शठ सुखस्वादी जो ।।२३।।

संलग्न सदा आरम्भों में, है क्षुद्र साहसिक चित्त सदा।
इन सबसे युक्त नील लेश्या, में परिणत होता है यदा-कदा ।।२४।।

जो वचन वक्र, आचरण वक्र, और कपटी ऋजुता रहित मना।
परिकुचक मायी मिथ्यात्वी, जो अनार्यता में रहे तना ।।२५।।

जो हास्य रसिक है दुर्वादी, तस्कर और मस्कर भाव धरे।
इन सब योगों से युक्त जीव, कापोती के परिणाम करे ।।२६।।

नम्रवृत्ति चापल्य - रहित, निर्मायी कुतूहल त्यागी है।
विनय भाव में दक्ष दान्त, उपधानवान् शुभ योगी है ।।२७।।

जो प्रियधर्मी या दृढ़धर्मी, है पाप-भीरु शिव पथ गामी।
ऐसी प्रवृत्ति से युक्त जान, तेजोलेश्या का परिणामी ।।२८।।

है क्रोध मान जिसमें थोड़ा, और लोभ कपट भी अल्प जहाँ।
जो शान्त जितेन्द्रिय मन वाला, तप साधन में शुभ योग वहाँ ।।२९।।

मितभाषी एवं शान्त हृदय, दमितेन्द्रिय जग में जो नर है।
ऐसी प्रवृत्ति से युक्त मनुज, पद्मा लेश्या परिणत नर है ।।३०।।

जो आर्त रौद्र दो ध्यान छोड़, है धर्म-शुक्ल धारण करता।
वह शान्तचित्त और दान्त समित, गुप्ति से मन गोपन करता ।।३१।।

रागी या गतराग जितेन्द्रिय, प्रशान्त जीवन जीते हैं।
ऐसी प्रवृत्ति से युक्त मनुज, शुक्ला लेश्या को धरते हैं ।।३२।।

संख्या - अतीत - सर्पिणीकाल, और उत्सर्पिणी के क्षण जितने।
अगणित लोकों के क्षेत्राणु, लेश्या के स्थान कहे उतने ।।३३।।

अन्तर्मुहूर्त की न्यूनस्थिति, सागर तैंतीस मुहूर्ताधिक।
उत्कृष्ट वहाँ स्थिति होती है, कृष्णा लेश्या के जो नायक ।।३४।।

अन्तर्मुहूर्त की न्यूनस्थिति, दश सागर पल्यासंख्य भाग।
ज्ञातव्य नील लेश्या की है, उत्कृष्ट स्थिति का यह विभाग ।।३५।।

अन्तर्मुहूर्त की न्यून स्थिति, त्रिसागर पल्यासंख्य भाग।
जानो कापोती लेश्या का, उत्कृष्ट काल का यह विभाग ।।३६।।

अन्तर्मुहूर्त की न्यून स्थिति, दो सागर पल्यासंख्य भाग।
तेजोलेश्या की होती है, उत्कृष्ट स्थिति सुनलो धर राग ।।३७।।

अन्तर्मुहूर्त की न्यूनस्थिति, दश सागर मुहूर्त साधिक की।
उत्कृष्ट स्थिति यों होती है, पद्मा लेश्या के जीवन की ।।३८।।

अन्तर्मुहूर्त की न्यूनस्थिति, सागर तैंतीस मुहूर्ताधिक।
उत्कृष्ट स्थिति यों पाता है, शुक्ला लेश्या का अधिनायक ।।३९।।

सामान्य स्थिति यह लेश्या की, बतलायी जग में जिनवर ने।
अब चारों गतियों में कैसी, बतलाई संस्थिति प्रभुवर ने ।।४०।।

कापोत की दश सहस्र समा, न्यूनातिन्यून स्थिति होती है।
जल निधि त्रिक पल्यासंख्य भाग, लेश्या प्राणी को रहती है ।।४१।।

जलनिधि त्रिक पल्यासंख्यभाग, होती जघन्य स्थिति नीला की।
दशसागर पल्यासंख्यभाग, उत्कृष्ट स्थिति इस लेश्या की ।।४२।।

दशसागर पल्यासंख्यभाग, न्यूनातिन्यून स्थिति है होती।
सागर तेंतीस परम जानो, कृष्णाकी कालावधि होती ॥४३॥

नारक जीवों की लेश्या का, यह काल मान प्रभु बतलाते।
इससे आगे स्थिति बतलाऊँ, नर तिर्यक् सुर को क्या होते ॥४४॥

अन्तर्मुहूर्त की स्थिति होती, जिनमें जो सीमा लेश्या की।
केवल लेश्या का वर्जन कर, तिर्यंच और नर जीवन की ॥४५॥

अन्तर्मुहूर्त की स्थिति होती, उत्कृष्ट क्रोड़ पूरव जानो।
नव वर्ष ऊन है पूर्वों में, शुक्ला लेश्या की स्थिति मानो ॥४६॥

तिर्यंच मनुज के लेश्या की, उपरोक्त स्थिति है बतलाई।
देवों में लेश्या की सीमा, बतलाऊँ श्रुति में ज्यों गाई ॥४७॥

दश सहस्र वर्ष की न्यूनस्थिति, कृष्णा लेश्या की होती है।
पल्य असंख्यभाग होती, जब अधिक काल तक रहती है ॥४८॥

कृष्णा की उत्कृष्ट स्थिति जो, समयाधिक करली जावे।
होती जघन्य वह नीला की, स्थिति पल्यासंख्य परम होवे ॥४९॥

नीला की उत्कृष्ट स्थिति, जो समयाधिक करली जावे।
होती जघन्य कापोती की, वह पल्यासंख्य परम होवे ॥५०॥

आगे इसके मैं बतलाऊँ, तेजो सुरगण को जैसे हो।
भवनाधिप व्यन्तर वैमानिक, ज्योतिर्धर के तन कैसे हो ॥५१॥

पल्योपम को न्यूनस्थिति, दो सागर ऊँची स्थिति जानो।
साधिक पल्यासंख्यभाग, तेजो लेश्या की स्थिति मानो ॥५२॥

दश सहस्रवर्ष हैं तेजो की, न्यूनातिन्यून स्थिति जिन जानी।
दो सागर पल्यासंख्यभाग, उत्कृष्ट स्थिति कहते ज्ञानी ॥५३॥

तेजोलेश्या की परमस्थिति, समयाधिक जघन्य है पद्माकी ।
दश सागर ऊँची स्थिति होती, अन्तर्मुहूर्त साधिक उसकी ।।५४।।

पद्मा की स्थिति जो बतलाई, समयाधिक ऊँची वह मानो ।
शुक्ला की न्यून स्थिति वैसी, सागर तैंतीस[1] परम जानो ।।५५।।

कृष्ण नील कापोत तीन, ये अधर्म लेश्या कहलाती ।
तीनों ही लेश्या से जग मे, दुर्गति की प्राप्ति सदा होती ।।५६।।

तेज पद्म धवला तीनों, ये शुभ लेश्या कहलाती है ।
इन तीनो से वृत्ति जीव की, सुगति - प्रदायी होती है ।।५७।।

लेश्याओं की परिणति का, प्रथम समय जब आता है ।
ना किसी जीव का उस पल में, उत्पाद भवान्तर होता है ।।५८।।

लेश्याओं की परिणति का, जब चरम समय रह जाता है ।
ना किसी जीव का उस पल में, उत्पाद भवान्तर होता है ।।५९।।

अर्धमुहूर्त जब हो जावे, और शेष अर्ध रह जाता है ।
लेश्या की उस परिणति में ही, जीव भवान्तर जाता है ।।६०।।

लेश्याओं के उन भागों को, यों जान विज्ञ जन ध्यान धरे ।
छोड़ अशुभ लेश्याओं को, शुभ लेश्या का संधान करे ।।६१।।

---

१ अन्तर्मुहुर्ताधिक तेंतीस सागर

३५ : अनगार-मार्ग गति

एकाग्र चित्त हो श्रवण करो, अर्हद् दर्शित शुभ शिवपथ को।
करता जिसका आचरण भिक्षु, दुःखान्त करे पाये सुख को ॥१॥

गृहवास छोड़कर साधक ने, दीक्षा ले मुनिपद प्राप्त किया।
जानो इन संगों को निश्चय, उलझा नर जिनमें हार गया ॥२॥

हिंसा असत्य वैसे चोरी, है अब्रह्मचर्य भी दुःखदायी।
अप्राप्त कामना और लोभ, संयमी त्याग दे सुखदायी ॥३॥

चित्रयुक्त मनहर निवास, और माल्य धूप से वासित हो।
सुन्दर कपाट चदवा वाला, वर-भवन वास ना इच्छित हो ॥४॥

वैसे मोहक उप-आश्रय में, इन्द्रिय गण अस्थिर हो जाती।
है काम-राग वर्द्धक घर में, इन्द्रिय दुष्कर वश हो पातीं ॥५॥

शून्यभवन शवदाहभूमि, हो तरुतल या एकान्त जहाँ।
पर-कृत-रिक्त स्थान में भिक्षु, वास देखकर करे वहाँ ॥६॥

बाधा जीव रहित सुस्थल, जो महिला जन से युक्त न हो।
चाहे उस घर में वसने को, भिक्षुक सम्यक् मन संयत हो ॥७॥

स्वयं सदन ना करे भिक्षु, ना अन्य किसी से करवाये।
निर्माण कार्य में जीवों का, निश्चित वध होता दिखलाये ॥८॥

त्रस स्थावर सूक्ष्म तथा वादर, जीवों की हिंसा होती है।
गृहकार्य अतः ना करने की, संयत की इच्छा होती है ॥९॥

ऐसे ही भोजन-पानी के, पाचन-धोवन में वध होते।
अतएव जन्तु की दया हेतु, मुनि पाक करे ना करवाते ॥१०॥

हैं जल धान्याश्रित जीव कई, पृथ्वी और काष्ठाश्रित होते।
वे भक्त पान में मरते हैं, यों जान भिक्षु ना पकवाते ॥११॥

प्रसरणशील सब ओर धार, बहु जीव विनाशक है पावक।
ना कभी जलाये भिक्षु अग्नि, है शस्त्र न अग्नि तुल्य घातक ॥१२॥

स्वर्ण रजत व्यवहार नहीं, भिक्षुक मन से ना चाह करे।
मणि काँचन मिट्टी सम माने, क्रय विक्रय में ना चित्त धरे ॥१३॥

क्रय करते क्रेता होता है, विक्रय से वणिक् कहा जाता।
क्रय विक्रय में रहने वाला, वैसा न भिक्षु है कहलाता ॥१४॥

भिक्षा है योग्य, न क्रय करना, है भैक्ष्यवृत्ति भिक्षुक होता।
सुखदायी भिक्षा वृत्ति कही, क्रय विक्रय महादोष होता ॥१५॥

सामूहिक घर से स्वल्प स्वल्प, सूत्रानुसार निन्दा विरहित।
सन्तुष्ट अलाभ-लाभ में हो, मुनि भोजनहित विचरे इच्छित ॥१६॥

रस में लोलुपता गृद्धि नहीं, और स्वाद विजय मूर्छाविरहित।
ना स्वाद हेतु भोजन करता, निर्वाह हेतु खाता संयत ॥१७॥

अर्चना और रचना वन्दन, सत्कार मान ऋद्धि पूजन।
अभिलाषा मन में करे नहीं, मुनिता का करने को रक्षण ॥१८॥

शुक्ल ध्यान को चित्त धरे, अनिदान अकिंचन व्रतधारी।
देहाभिमान से मुक्त रहे, जब तक है काल कार्यकारी ॥१९॥

मुनि कालधर्म के आने पर, आहार त्याग दे निर्भय हो।
मानुष तन का परित्याग करे, सब दुःख मुक्त शुभ जीवन हो ॥२०॥

मम और अहं विष कज करके, गतराग निरास्रव हो जाते।
निर्मल केवल पद प्राप्त करे, शाश्वत निर्वाण परम पाते ॥२१॥

●

३६ : जीवाजीव-विभक्ति

जीवाजीव के प्रविभागों को, एकाग्रचित्त हो श्रवण करें।
इन दोनों को जान श्रमण, सम्यक् संयम में यत्न करे ।।१।।

है जीव और जड़ द्रव्य दूसरा, लोक यही जिन बतलाया।
है द्रव्य-अजीव का देश गगन, उसको अलोक प्रभु ने गाया ।।२।।

द्रव्य क्षेत्र और काल भाव से, वर्णन इनका होता है।
जड़ चेतन दो प्रमुख द्रव्य, जग का कारण कहलाता है ।।३।।

रूपी और अरूपी यों, दो भेद अजीव के होते हैं।
रूपी के हैं चार, अरूपी, दश प्रकार के होते हैं ।।४।।

धर्मास्तिकाय और देश तथा, प्रदेश भेद है बतलाया।
ऐसे अधर्म और देश तीसरा, उसका प्रदेश भी है गाया ।।५।।

नभ द्रव्य तथा है देश और, प्रदेश तीसरा बतलाये।
अद्धा काल एक यों मिलकर, भेद अरूपी दश गाये ।।६।।

धर्म, अधर्म-काय ये दोनों, लोक प्रमित बतलाये हैं।
लोकालोक गगनव्यापी, नरलोक काल कहलाये है ।।७।।

धर्म अधर्म और गगन द्रव्य, तीनों अनादि ये कहलाते।
सदा काल रहने से इनको, अन्त रहित हैं बतलाते ।।८।।

सन्तति को पाकर काल द्रव्य, ऐसे अनन्त कहलाता है।
स्थिति विशेष के कारण से, वह सादि सान्त भी होता है ।।९।।

स्कन्ध देश और तत्प्रदेश, परमाणु पृथक् कहलाता है।
रूपी पुद्गल के चार भेद, यों जिन शासन बतलाता है ॥१०॥

मिलने तथा पृथक् होने से, स्कन्ध और परमाणु बने।
सम्पूर्ण लोक या लोक देश, वैकल्पिक क्षेत्र कहा जिन ने ॥

अब काल विभाग कहूँ उनका, जो चार प्रकार सुनो आगे।
जिसको सुनकर साधक का मन, अध्यात्म साधना में जागे ॥११॥

प्रचलित धारा की दृष्टि पकड, ना आदि अन्त उनका जानो।
स्थिति विशेष को लेकर के, है सादि-सान्त भी पहचानो ॥१२॥

असंख्यकाल उत्कृष्ट कही, और एक समय की न्यूनस्थिति।
रूपी अजीवों की ऐसी, बतलाई सोमा काल स्थिति ॥१३॥

उत्कृष्ट अनन्ताकाल समझ, और एक समय का न्यून कहा।
रूप अजीव का अन्तर जग में, बतलाया जिनदेव महा ॥१४॥

पुद्गल परिणति के पाँच भेद, श्री वीर प्रभु ने बतलाये।
वर्ण गंध रस स्पर्श और, संठाण पाँच यों समझाये ॥१५॥

वर्ण भाव से परिणत पुद्गल, पाँच भेद से बतलाये।
है कृष्ण नील लोहित व पीत, और धवल पंच विध दर्शाये ॥१६॥

गन्ध भाव से परिणत पुद्गल, युगलरूप जग में गाये।
सुरभि गन्ध और दुरभिगन्ध, परिणाम शास्त्र में बतलाये ॥१७॥

स्वाद-भाव से परिणत पुद्गल, पाँच भेद जिन बतलाते।
तिक्त कटुक काषाय अम्ल, और मधुर पाँच यों कहलाते ॥१८॥

स्पर्श भाव से परिणत पुद्गल, आठ भेद कहलाते हैं।
कर्कश मृदुक और ऐसे ही, हल्के भारी होते हैं ॥१९॥

शीत उष्ण है स्पर्श और, चिकने-रूखे भी जग जाने।
यों स्पर्श भाव से परिणत पुद्गल, कहे शास्त्र में मनमाने ॥२०॥

संस्थान-भाव-परिणत पुद्गल, पाँच भेद के बतलाये।
परिमण्डल वृत्त त्रिकोण तथा, आयत चतुरस्र यों कहलाये ॥२१॥

कृष्ण वर्ण का जो पुद्गल है, द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों के, विविध भाव से बदल रहा ॥२२॥

नील वर्ण का जो पुद्गल, है द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों के, विविध भाव से बदल रहा ॥२३॥

रक्त वर्ण का जो पुद्गल, है द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों के, विविध भाव से बदल रहा ॥२४॥

पीत वर्ण का जो पुद्गल, द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों के, विविध भाव में बदल रहा ॥२५॥

श्वेत वर्ण का जो पुद्गल है, द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों से, विविध भाव में बदल रहा ॥२६॥

सुरभि गन्ध का जो है पुद्गल, वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों से, विविध भाव में बदल रहा ॥२७॥

अशुभ गन्धयुत जो पुद्गल है, वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों से, विविध भाव में बदल रहा ॥२८॥

तिक्त स्वाद का जो पुद्गल है, वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध वा संस्थानों से, वह विविध भाव में बदल रहा ॥२९॥

कटुक स्वाद का जो पुद्गल है, वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध वा संस्थानों से, वह विविध भाव में बदल रहा ॥३०॥

रस कषायमय जो पुद्गल है, वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध वा संस्थानों के, वह विविध भाव में बदल रहा ॥३१॥

खट्टे रस का जो पुद्गल है, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध संस्थानों से, बहु विध भावों में बदल रहा ॥३२॥

मधुर स्वाद का जो पुद्गल है, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध संस्थानों से, बहुविध भावों में बदल रहा ॥३३॥

कर्कश स्पर्श का जो पुद्गल है, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानों के, बहुविध भावों में बदल रहा ॥३४॥

मृदुक स्पर्शमय जो पुद्गल है, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानों से, बहुविध भावों में बदल रहा ॥३५॥

गुरुक स्पर्शमय जो पुद्गल है, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानों के, बहुविध भावों में बदल रहा ॥३६॥

स्पर्श लघुकमय जो पुद्गल, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानों से, बहुविध भावों में बदल रहा ॥३७॥

शीत स्पर्शमय जो पुद्गल, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानों से, बहुविध भावों में बदल रहा ॥३८॥

उष्ण स्पर्शमय जो पुद्गल, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानों से, बहुविध भावों में बदल रहा ॥३९॥

स्निग्ध स्पर्शमय जो पुद्गल, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानों में, बहुविध भावों में बदल रहा ॥४०॥

स्पर्श रूक्षमय जो पुद्गल, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानों से, बहुविध भावों में बदल रहा ॥४१॥

परिमंडल आकार वस्तु, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
गन्ध स्पर्श और रस भावों से, विविध भाव में बदल रहा ॥४२॥

वृत्ताकार रूप जो पुद्गल, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध रस भावों से, विविध भेद जग जान रहा ॥४३॥

त्रिकोणाकृति का पुद्गल, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध रस भावों से, जग विविध रूप में जान रहा ॥४४॥

चतुष्कोण आकृति वाला, है वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध रस भावों से, जग विविध रूप में जान रहा ॥४५॥

आयताकार जो है पुद्गल, वह वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध रस भावों से, विविध रूप जग जान रहा ॥४६॥

यों अजीव के भेदों का, संक्षिप्त रूप से किया कथन।
अब जीव भेद का अनुक्रम से, करना है मुझको शुभ वर्णन ॥४७॥

द्विविध जीव है बतलाये, एक संसारी और सिद्ध अपर।
हैं विविध भेद से सिद्ध कहे, कहता हूँ सुनलो हो तत्पर ॥४८॥

स्त्री और पुरुष लिंग से होते, हैं सिद्ध नपुंसक भी होते।
जिन लिंग तथा पर लिंग और, गृहि लिंग सिद्ध भी हो जाते ॥४९॥

देहमान उत्कृष्ट और, मध्यम वा न्यूनमान होते।
ऊर्ध्व अधो वा तिर्यक् जग, सागर वा जल में शिव पाते ॥५०॥

क्लीव लिंग से दश होते, और बीस नारि तन से होते।
पुरुष लिंग से अष्टोत्तरशत, एक समय में शिव जाते ॥५१॥

गृही चार पर-तीर्थ लिंग से, सिद्धि मिलाते दश नरवर।
है जैन लिंग से आठ अधिक, शत एक समय पाते शिवपुर ॥५२॥

उत्कृष्ट देहमान वाले, दो एक साथ शिवपद पाते।
है न्यून मान से चार और, मध्यम अष्टोत्तरशत होते ॥५३॥

ऊर्ध्व लोक से चार मिलाते, सिद्धि युगल सागर पाते।
जल में तीन और भूतल में, बीस मुक्ति को हैं जाते॥
अष्टोत्तर शत तिर्यग् भू से, समय एक में शिव पाते।
पाकर शिवपुर कभी न कोई, धराधाम में हैं आते ॥५४॥

प्रतिहत होते कहाँ सिद्ध, और कहाँ प्रतिष्ठित हैं होते।
कहाँ छोड़कर नर तन को, वे सिद्ध कहाँ जाकर होते ॥५५॥

होते अलोक में प्रतिहत वे, लोकाग्र प्रतिष्ठित हो जाते।
जगती पर तन को छोड़ वहाँ, जाकर के शिवमय बन जाते ॥५६॥

बारह योजन सर्वार्थलोक के, ऊपर जाने पर आती है।
ईषत्प्राग्भारा नामा, भू छत्राकृति ज्यों होती है ॥५७॥

आयाम और है चौड़ाई, पैंतालीस योजन लक्ष सही।
होती है उससे तीन गुणी, परिधि आगम में स्पष्ट कही ॥५८॥

योजन आठ मोटापायुत्, शिलामध्य में बतलायी।
घटते-घटते चरमान्त मक्षिका, पर से पतली कहलायी ॥५९॥

उज्ज्वल स्वर्णमयी वह पृथ्वी, निर्मल स्वभाव से है होती।
उत्तान छत्र की आकृति में, जिनवर बतलाई मनभाती ॥६०॥

शंख, अंक और कुन्द पुष्प सम, धवल विमल है शुभ्र प्रभा।
उस सीता नामा पृथ्वी से, योजन लोकान्त की है आभा ॥६१॥

योजन का उपरिम क्रोश एक, आकाश खण्ड जो होता है।
उस कोश के छट्ठे भाग क्षेत्र में, अवगाह सिद्ध का होता है ॥६२॥

अचिन्त्य शक्तिधर सिद्ध वहाँ, लोकाग्र प्रतिष्ठित होते हैं ।
भव दुःख प्रपंच से मुक्त सिद्धि, वर परम श्रेष्ठ गति भजते हैं ॥६३॥

जिसकी जितनी हो ऊँचाई, अन्तिम भव में मानुष तन की ।
उतनी त्रिभाग कम सिद्धों की, सीमा नभ में अवगाहन की ॥६४॥

एक सिद्ध सादिक होते, और अन्त कभी ना पाते हैं ।
वहुत सिद्ध को लेकर वे, आद्यन्त रहित सब होते हैं ॥६५॥

हैं सिद्ध अरूपी जीव सघन, उपयुक्त ज्ञान और दर्शन में ।
अनुपम आत्मिक सुख को पाये, उपमा न कोई जिसकी जग में ॥६६॥

लोकैकदेश में वे सब हैं, दर्शन-सद् ज्ञान सहित जानो ।
भवसागर पार पहुँच करके, वर सिद्धि प्राप्त उनको मानो ॥६७॥

संसारस्थ जीव जग भर में, युगल भेद से बतलाये ।
जंगम स्थावर दो मूल भेद, स्थावर शिवनेत्र भेद गाये ॥६८॥

पृथ्वी जल और वनस्पति ये, हैं तीन भेद स्थावर के ।
इन तीनों के अन्य भेद, सुन लो मेरे से मन धरके ॥६९॥

पृथ्वी कायिक है जीव द्विविध, एक सूक्ष्म दूसरा बादर है ।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद से, दो-दो होता फिर परिकर है ॥७०॥

बादर पृथ्वी पर्याप्त जीव के, युगल भेद श्रुत में गाये ।
एक मृदुल खर भेद दूसरा, मृदुल सप्तविध बतलाये ॥७१॥

कृष्ण नील और रक्त पीत, उज्ज्वल भूरी अति स्निग्ध धूल ।
खर पृथ्वी के ऐसे ही, छत्तीस भेद हैं कहे स्थूल ॥७२॥

पृथ्वी और शर्करा बालु, उपल शिला मिट्टी खारी ।
लोह ताम्र रांगा शीशा, और स्वर्ण रजत हीरा भारी ॥७३॥

हरिताल हिंगलुक मनःशिला, सस्यक अंजन मूँगा जानो।
अभ्र पटल और अभ्र बालु, ये बादर कायिक मणि मानो ॥७४॥

गोमेदक और रुचक अंक, लोहिताक्ष मणि स्फटिक यथा।
मरकत और मसारगल्ल, भुजमोचक इन्द्रनील तथा ॥७५॥

चन्दन गैरिक हंसगर्भ, सौगान्धिक और पुलक जानो।
वैडूर्य चन्द्रप्रभ वारिकांत, है सूर्यकान्त ऐसे मानो ॥७६॥

ये खर पृथ्वी के मूल भेद, छत्तीस शास्त्र बतलाते हैं।
है सूक्ष्म एकविध भेद नहीं, उसके श्रुतधर यों गाते हैं ॥७७॥

सूक्ष्म लोक में व्याप्त कहे, और लोक देश में बादर है।
अब काल भेद चौविध कहता, बतलाया जैसा श्रुतधर है ॥७८॥

लेकर प्रवाह को सब प्राणी, आद्यन्त रहित भी होते हैं।
ऐसे स्थिति को लेकर वे, साद्यन्त काल भी होते हैं ॥७९॥

बाईस सहस्र संवत्सर की, उत्कृष्ट आयु स्थिति होती है।
पृथ्वीकायिक उन जीवों की, अन्तर्मुहूर्त कम बनती है ॥८०॥

असंख्य काल उत्कृष्ट रहे, और जघन्य घटिका के भीतर।
कायस्थिति पृथ्वी जीवों की, होती उस काया में रहकर ॥८१॥

अनन्तकाल उत्कृष्ट रहे, और जघन्य घटिका के भीतर।
पृथ्वीमय तन को तज प्राणी, रहता पर तन में यह अन्तर ॥८२॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भेद से होते हैं।
पृथ्वी जीवों के सहस्र भेद, जैनागम बतलाते हैं ॥८३॥

जलकायिक भी जीव जगत् में, सूक्ष्म और बादर होते।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद से, ज्ञानी जन हैं बतलाते ॥८४॥

बादर-पर्याप्त जलकाय जीव, हैं पाँच भेद प्रभु ने गाये।
शुद्ध उदक और अवश्याय, हरतनु महिका हिम कहलाये ॥८५॥

सूक्ष्म एकविध भेद नही, उसमें आगम बतलाता है।
सम्पूर्ण लोक में व्याप्त सूक्ष्म, वादर एकांश में रहता है ॥८६॥

प्रवाह से वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित भी होते हैं।
स्थिति को लेकर ये आदि सहित, और अन्त युक्त भी होते हैं ॥८७॥

सात सहस्र वर्षों की होती, उत्कृष्ट आयु जल जीवों की।
अन्तर्मुहूर्त की कम से कम, होती स्थिति वादर जीवों की ॥८८॥

उत्कृष्टा स्थिति असंख्यकाल, स्थिति मुहूर्त भीतर न्यून कही।
जलकाय भाव को विन त्यागे, काय स्थिति इतनी मान्य रही ॥८९॥

अनन्तकाल का है अन्तर, उत्कृष्ट न्यून भीतर घटिका।
जलकाय भाव में आने का, अन्तर इतना जल जीवों का ॥९०॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से है जानो।
यों भेद विविध जल जीवों के, होते सहस्राधिक मानो ॥९१॥

हैं जीव वनस्पति युगल भेद, वादर वा सूक्ष्म कहे जाते।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद, फिर इनके भी दो-दो होते ॥९२॥

बादर पर्याप्त वनस्पति के, दो भेद शास्त्र वतलाते हैं।
हैं एक साधारण तन वाले, प्रत्येक दूसरे होते है ॥९३॥

प्रत्येक शरीरी वनकायिक, नाना प्रकार के वतलाये।
तरु गुच्छ गुल्म एवं लतिका, वल्ली तृण जग में लहराये ॥९४॥

लता वलय पर्वज एवं, भू-फोड़ कमल औषधि पाया।
हरितकाय तृण ये सब हैं, प्रत्येक शरीरी वनकाया ॥९५॥

साधारण के भी ऐसे, नाना प्रकार प्रभु बतलाते।
आलू मूलक और शृंगवेर, कई भेद अन्य ऐसे होते ॥९६॥

हिरली सिरिली सिस्सिरली, जावई कन्दली कन्द यथा।
कुस्तुम्बक प्याज लसुन ऐसे, कन्दली और भी कन्द तथा ॥९७॥

लोही स्तिहु और स्तिभु जानो, कुहक कन्द कहलाते हैं।
कृष्णकन्द और वज्रकन्द, ऐसे सूरण भी होते है ॥९८॥

हयकर्णी और सिहकर्ण सी, कन्द - मुसुण्डी कहलाती।
है भेद हरिद्रा आदि कई, साधारण काया में आती ॥९९॥

सूक्ष्म एकविध भेद नहीं, जिन आगम में बतलाये हैं।
सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त सूक्ष्म, बादर सर्वत्र न पागे है ॥१००॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित भी होते हैं।
स्थिति को लेकर ये जग में, आद्यन्त सहित हो जाते हैं ॥१०१॥

दश हजार परिमित वर्षो की, स्थिति उत्कृष्टा होती है।
वनकायिक की न्यूनस्थिति, अन्तर्मुहूर्त हो जाती है ॥१०२॥

उत्कृष्ट अनन्ताकाल और, अन्तर्मुहूर्त अति न्यून कही।
हरित काय को विन त्यागे, कायस्थिति भोगे पनक सही ॥१०३॥

असंख्य काल का परम और, अतिन्यून मुहूर्त के भीतर का।
निज काय प्राप्त फिर करने में, अन्तर होता इतना वन का ॥१०४॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से बतलाये।
वनकायिक उन जीवों के यों, भेद सहस्रों कहलाये ॥१०५॥

यों तीन भेद स्थावर जग में, संक्षिप्त रूप से बतलाये।
अब त्रिविध त्रसों को कहता हूँ, अनुक्रम से श्रुत में जो गाये ॥१०६॥

तेजो वायु और उदारतन, ये त्रिविध भेद त्रस जीवों के।
मैं भेद बताऊँ आगम से, तुम श्रवण करो उन जीवों के ॥१०७॥

द्विविध जीव हैं तेज काय के, सूक्ष्म और बादर जानो।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद से, फिर दो-दो इनको मानो ॥१०८॥

बादर जो पर्याप्त तेज हैं, भेद अनेकों बतलाये।
अंगारा मुर्मर अग्नि और, ज्वालार्चि रूप भी कहलाये ॥१०९॥

उल्का विद्युत् आदि अनेकों, भेद अग्नि के कहलाये।
सूक्ष्म एकविध भेद नहीं, उनके सूत्रों में बतलाये ॥११०॥

सम्पूर्ण लोक में व्याप्त सूक्ष्म, बादर सर्वत्र नहीं होते।
अब कालविभागचतुर्विध उनका, कहूँ सूत्र जो बतलाते ॥१११॥

सन्तति की दृष्ट्या सब प्राणी, आद्यन्त रहित भी होते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर, आद्यन्त सहित हो जाते हैं ॥११२॥

अन्तर्मुहूर्त की न्यूनस्थिति, तेजस्कायिक की होती है।
उत्कृष्ट तीन दिन रात्रिमान, की आयु स्थिति हो जाती है ॥११३॥

असंख्य कालपरिमिततेजस की, परम काय स्थिति होती है।
अग्निकाय भव बिन त्यागे, स्थितिन्यून मुहूर्त कम होती है ॥११४॥

अनन्त काल अन्तर होता, उत्कृष्ट न्यून घटिकार्ध मान।
निज काय त्यागकर तेजस का, इतना अन्तर का काल जान ॥११५॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से जो होते।
तेजस्कायिक उन जीवों के, हैं भेद सहस्रों हो जाते ॥११६॥

है वायुकाय के द्विविध जीव, बादर और सूक्ष्म कायधारी।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद, इनके फिर होते प्रियकारी ॥११७॥

पर्याप्त तेज बादर कायिक, के पाँच भेद बतलाये हैं।
उत्कलिक मण्डलिक शुद्ध वायु, घन गुंजवात कहलाये हैं ।।११८।।

संवर्तक वायु पंचम है, ऐसे ही भेद अनेक कहे।
है सूक्ष्म एकविध भेद नही, सारे जग में जो फैल रहे ।।११९।।

सम्पूर्ण लोक में व्याप्त सूक्ष्म, सर्वत्र नहीं बादर होते।
अब काल भेद चौविध उनका, कहूँ सूत्र जो बतलाते ।।१२०।।

सन्तति की दृष्ट्या वे प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
ऐसी ही स्थिति को लेकर सब, साद्यन्त काल से होते हैं ।।१२१।।

वायुकाय के जीवों की, त्रिसहस्र वर्ष की स्थिति होती।
उत्कृष्ट और है न्यूनस्थिति, भीतर मुहूर्त के रह जाती ।।१२२।।

असख्य काल परिमित वायु, की परमकाय स्थिति होता है।
वायु काय को विन त्यागे, स्थितिन्यूनमुहूर्त कम होती है ।।१२३।।

अनन्त काल अन्तर होता, उत्कृष्ट न्यून घटिकार्थ जान।
तज स्वीयकाय फिर पाने में, वायु का अन्तर ऐसा मान ।।१२४।।

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भेद से जो होते।
वायुकाय उन जीवों के, हैं भेद सहस्रों हो जाते ।।१२५।।

ऐसे उदार जो त्रस प्राणी, वे चार प्रकार कहे जाते।
द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय अन्तिम कहलाते ।।१२६।।

दो इन्द्रिय जो जीव जगत् में, वे भेद युगल कहलाते हैं।
अपर्याप्त पर्याप्त सुनो, उनके भेदों को कहते हैं ।।१२७।।

कृमि सौमंगल और अलस, यों ही मातृवाहक होते।
वासीमुख शुक्ति शंख एवं, शंखानक भेद विविध होते ।।१२८।।

पल्लोय अणुल्लक तथा, यहाँ जो प्राप्त वराटक होते हैं।
जालक जलौक और चन्दनियाँ, के रूप जीव कई होते हैं ॥१२९॥

इस तरह अनेकों भेद यहाँ, द्वीन्द्रिय प्राणी के होते हैं।
सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं, ये एक भाग में होते हैं ॥१३०॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
स्थिति को लेकर वे ऐसे ही, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१३१॥

बाहर वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति, बतलाई द्वीन्द्रिय प्राणी की।
अन्तर्मुहूर्त का न्यून काल, विन त्यागे होती उस भव की ॥१३२॥

संख्येय काल है परम स्थिति, अति न्यूनमुहूर्त के भीतर की।
विन त्यागे बेइन्द्रिय भव को, कायस्थिति द्वीन्द्रिय जीवों की ॥१३३॥

अनन्तकाल अन्तर होता, अन्तर्मुहूर्त अतिन्यून कहा।
बेइन्द्रिय जीवों का इतना, परकाय भ्रमण का काल रहा ॥१३४॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से कहलाते।
बेइन्द्रिय जीवों के जग में, यों भेद सहस्रों हो जाते ॥१३५॥

होते जो त्रीन्द्रिय जीव यहाँ, वे द्विविध शास्त्र में बतलाये।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद को, सुनो शास्त्र में यों गाये ॥१३६॥

कुंथु पिपीलिका या खटमल, मकड़ी दीमक और तृणखादक।
काष्ठाहार तथा मालुक, यों त्रीन्द्रिय जान पत्र भक्षक ॥१३७॥

कार्पासास्थि मिंज तिन्दुक, ऐसे ही कर्णखजूर जानो।
शतावरी और इन्द्रकाय, जग मे त्रीन्द्रिय प्राणी मानो ॥१३८॥

इन्द्रगोप आदिक अनेक, हैं भेद त्रि-इन्द्रिय प्राणी के।
सम्पूर्ण लोक में रहे नहीं, एकांश वसें वे त्रिभुवन के ॥१३९॥

सन्तति की दृष्ट्या ये प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१४०॥

उनपचाससमित अहोरात्र, उत्कृष्ट मान है जीवन का।
त्रि-इन्द्रिय जीवों का जघन्य, अन्तर्मुहूर्त आयु भव का ॥१४१॥

संख्येयकाल उत्कृष्ट स्थिति, है न्यून मुहूर्त के भीतर की।
बिन त्यागे त्रीन्द्रिय जीवन को, काय स्थिति है उन जीवों की ॥१४२॥

अनन्तकाल अन्तर होता, उत्कृष्ट न्यून घटिकार्ध मान।
निजकाय त्याग त्रि-इन्द्रिय का, इतना है अन्तर काल जान ॥१४३॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से जो होते।
त्रि-इन्द्रिय जीवों के ऐसे, यों भेद सहस्रों हो जाते ॥१४४॥

चतुरिन्द्रिय जो जीव जगत् के, युगल भेद बतलाये हैं।
अपर्याप्त पर्याप्त सुनो, क्या भेद शास्त्र में गाये हैं ॥१४५॥

अन्धिका पोत्तिका और मक्षिका, मशक दंश भी कहलाते।
भ्रमर पतंगा और कीट, ढिंकुण कुंकण यों बतलाते ॥१४६॥

कुक्कुड़ सिंगरिडी नंद्यवर्त, वृश्चिक भृंगारी डोल तथा।
विरली चउरिन्द्रिय अक्षिवेध, होती विकलेन्द्रिय जीव कथा ॥१४७॥

अक्षिल मागध अक्षिरोड है, चित्र-विचित्र पंखों वाले।
ओहिंजलिया जलकारी, यों नियय तंबकायिक पाले ॥१४८॥

ऐसे चतुरिन्द्रिय जीव अनेकों, भेद जगत् में होते हैं।
एकांश लोक में वे प्राणी, होते यों शास्त्र सुनाते हैं ॥१४९॥

सन्तति की दृष्ट्या वे प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१५०॥

छः मास काल की बतलायी, उत्कृष्ट आयु इन जीवों की।
अन्तर्मुहूर्त न्यून सीमा, है चतुरिन्द्रिय भव वालों की ॥१५१॥

संख्येय काल की परमस्थिति, अति न्यून मुहूर्त के भीतर की।
चतुरिन्द्रिय भव को विनत्यागे, कायस्थिति है इन जीवों की ॥१५२॥

उत्कृष्ट अनन्ताकाल कहा, अन्तर्मुहूर्त कम होता है।
चतुरिन्द्रिय तन फिर पाने में, अन्तर इतना हो जाता है ॥१५३॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से जो होते।
चतुरिन्द्रिय जीवों के ऐसे, ये भेद सहस्रों हो जाते ॥१५४॥

पंचेन्द्रिय जीवों के जग में, चार भेद बतलाये हैं।
नारक तिर्यक् और मनुज देव, ये चार रूप कहलाते है ॥१५५॥

हैं नैरयिकों के सात भेद, सातों पृथ्वी में होते हैं।
जो रत्नाभा शर्करा वालुका, प्रभा भूमि कहलाते हैं ॥१५६॥

पंकाभा एव धूमाभा, तमा तमस्तम सप्तम हैं।
ऐसे निरयों के सात भेद, ये बतलाते जिन आगम हैं ॥१५७॥

लोकैकदेश में निरयवास के, जीव सभी कहलाते हैं।
अब काल भेद उनके चौविध, जो है उनको बतलाते हैं ॥१५८॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१५९॥

सागर एक की उपमा का, उत्कृष्ट काल है बतलाया।
पहली पृथ्वी में न्यून काल, दशसहस्र वत्सर कहलाया ॥१६०॥

है तीन सागरोपम आयु, उत्कृष्ट दूसरी पृथ्वी की।
जघन्य सागर एक कही, नारक-पृथ्वी के प्राणी की ॥१६१॥

है सागर सात परम जीवन, उत्कृष्ट तीसरी पृथ्वी का ।
जघन्य सागर तीन कहा, ऐसे उन नारक प्राणी का ॥१६२॥

सागर दश की उपमा वाली, उत्कृष्ट आयु है बतलायी ।
चौथी पृथ्वी का जघन्यतम, है सागर सात आयु गायी ॥१६३॥

सतरह सागर की उपमा की, उत्कृष्ट आयु है बतलायी ।
पंचम पृथ्वी की जघन्यतम, दश सागर आयु कहलायी ॥१६४॥

बाईस सागरोपम परिमित, उत्कृष्ट आयु है बतलायी ।
छट्ठी पृथ्वी में न्यून स्थिति, सागर सत्रह की समझायी ॥१६५॥

सागर तेंतीस की परम आयु, सप्तम पृथ्वी की बतलायी ।
न्यूनातिन्यून है आयुस्थिति, सागर बाईस की समझायी ॥१६६॥

जो ही आयु स्थिति बतलाई, निरय स्थल के उन जीवों की ।
होती जघन्य उत्कृष्ट तथा, वो ही कायस्थिति भी उनकी ॥१६७॥

उत्कृष्ट अनन्ताकाल कहा, अन्तर्मुहूर्त अति न्यूनान्तर ।
नारक तन तज फिर पाने में, इतना होता है कालान्तर ॥१६८॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से हो जाते ।
चतुरिन्द्रिय जीवों के ऐसे, भेद सहस्रों बन जाते ॥१६९॥

पंचेन्द्रिय तिर्यंच् जगत में, युगल भेद से बतलाये ।
संमूर्छिम तिर्यंच एक, गर्भज हैं अन्य गए गाये ॥१७०॥

इन दोनों के हैं तीन भेद, जलचर-थलचर व नभचारी ।
उनके भी भेद सुनो मुझसे, होते हैं जैसे विस्तारी ॥१७१॥

मत्स्य कच्छ ग्रह मकर भेद, ये चार प्रकार गए गाए ।
सुंसुमार है भेद पाँचवाँ, जलचर क्रम यों बतलाए ॥१७२॥

लोकैकभाग में ये सब हैं, सर्वत्र नहीं वे होते हैं।
अब काल विभाग कहूँ उनका, जो चार भेद से होते हैं ॥१७३॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर ये, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१७४॥

आयु स्थिति होती क्रोड पूर्व, उत्कृष्ट पंचेन्द्रिय जलचर की।
होती जघन्यतः वह आयु, अन्तर्मुहूर्त उन जीवों की ॥१७५॥

क्रोड पूर्व प्रत्येक परमस्थिति, जलचर की बतलाई है।
कायस्थिति ऐसे न्यून वहाँ, अन्तर्मुहूर्त की गाई है ॥१७६॥

होता जघन्यतः कालान्तर, अन्तर्मुहूर्त उन जीवों का।
अनन्तकाल मे फिर पाते, जलचर तन अन्तर है उनका ॥१७७॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से हो जाते।
जलचर पंचेन्द्रिय जीवों के, यों भेद महस्रों बन जाते ॥१७८॥

चौपाये परिसर्प और, स्थलचर दो जग में हैं होते।
चौपायों के है चार भेद, उनको सुनलो मुझसे कहते ॥१७९॥

होते एक खुर और द्विखुर, गण्डीपद नखपद कई होते।
हय-आदि गवादि गज आदि, सिंहादिक नखधर कहलाते ॥१८०॥

भुज और उरग परिसर्प युगल, परिसर्प भेद कहलाते हैं।
गोधा आदिक और सर्पादिक, प्रत्येक बहुलविध होते हैं ॥१८१॥

लोकैकभाग में वे सब है, सम्पूर्णलोक में व्याप्त नहीं।
मैं करूँ चतुर्विध काल भेद का, वर्णन उनका पूर्ण सही ॥१८२॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१८३॥

पल्योपम तीन की स्थिति होती, उत्कृष्ट शास्त्र बतलाता है।
स्थलचर जीवों का आयु काल, अन्तर्मुहूर्त कम होता है ॥१८४॥

तीन पल्य की उपमा से, उत्कृष्ट कायस्थिति होती है।
कोटिपूर्व प्रत्येक सहित, अतिन्यून मुहूर्त कम होती है ॥१८५॥

स्थलचर जीवों की कायस्थिति, अन्तर उनका यह होता है।
उत्कृष्ट अनन्ताकाल और, भीतर मुहूर्त कम रहता है ॥१८६॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से हो जाते।
स्थलचर पंचेन्द्रिय जीवों के, यों भेद सहस्रों बन जाते ॥१८७॥

चर्मपक्षी और रोमपक्षी, समुद्‌ग तीसरे खग होते।
होते हैं वितत-पक्षयुत् भी, यों चउविध खेचर हो जाते ॥१८८॥

सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं, लोकैक भाग में वे होते।
मैं करूँ चतुर्विध काल भेद, वर्णन जो श्रुतधर बतलाते ॥१८९॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर के, आद्यन्त सहित कहलाते हैं ॥१९०॥

है असंख्यतम भाग पल्य का, खेचर जीवों का आयुमान।
अन्तर्मुहूर्त का कम से कम, होता जीवन का काल मान ॥१९१॥

पल्योपम का असंख्य भाग, उत्कृष्ट कायस्थिति बतलाई।
है पूर्वकोटि प्रत्येक सहित, अन्तर्मुहूर्त लघु कहलाई ॥१९२॥

खग की कायस्थिति बतलाई, अन्तर उनका है यह होता।
उत्कृष्ट अनन्त काल पीछे, फिर खग भव में आना होता ॥१९३॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से होते हैं।
खेचर पंचेन्द्रिय जीवों के, यों भेद सहस्रों होते हैं ॥१९४॥

मनुज भेद दो होते हैं, उनको मैं कहता सुन लेना।
सम्मूर्छिम एवं गर्भ जन्म, यों मुख्य भेद बतला देना ॥१९५॥

गर्भावक्रान्त मानव प्राणी, के तीन भेद बतलाये हैं।
भोगभूमि और कर्मभूमि, अन्तरद्वीपज कहलाये हैं ॥१९६॥

पन्द्रह कर्मधरा के नर, और तीस अकर्म भू के होते।
द्वीपज के दो भेद अठाईस, उनकी संख्या श्रुतधर गाते ॥१९७।

सम्मूर्छिम मनुजों के ये ही, है भेद शास्त्र में बतलाये।
सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं, लोकैक भाग में कहलायें ॥१९८॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते है।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१९९॥

तीन पल्य परिमित आयु, उत्कृष्ट मनुज की बतलाई।
न्यूनातिन्यून अवधि उनकी, अन्तर्मुहूर्त की समझाई ॥२००॥

तीन पल्य पर कोटि पूर्व, प्रत्येक काय स्थिति होती है।
न्यूनावधि नर जीवन की, अन्तर्मुहूर्त रह जाती है ॥२०१॥

मनुज भाव की कायस्थिति, बतलाई अन्तर यह होता।
अन्तर्मुहूर्त होता जघन्य और, अनन्त काल अति हो जाता ॥२०२॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से हो जाते।
मानव जीवों से इस जग में, यों भेद सहस्रों बन जाते ॥२०३॥

देव चतुर्विध कहलाये, सुन लेना उनको मैं कहता।
भौमेय और व्यन्तर ज्योषित, वैमानिक चौथा सुर होता ॥२०४॥

देव-भवनवासी दसविध, व्यन्तर के आठ भेद होते।
ज्योतिष्क देव के पाँच भेद, वैमानिक युगविध बतलाते ॥२०५॥

असुर नाग एवं सुपर्ण, विद्युत् पावक कहलाये हैं।
द्वीपोदधि दिक् पवन स्तनित, ये भवनदेव बतलाये हैं ॥२०६॥

पिशाच भूत और यक्ष रक्ष, किन्नर एवं किंपुरुष तथा।
गन्धर्व महोरग होते हैं, वनचारी अष्टप्रकार यथा ॥२०७॥

चन्द्र सूर्य नक्षत्र और, ग्रह तारक पंचम होते हैं।
स्थित और चलित ये ज्योतिर्धर, यों पाँच भेद के होते हैं ॥२०८॥

वैमानिक जो सुर होते हैं, वे द्विविध लोक में कहलाते।
कल्पोपग कल्पातीत मुख्य, यों भोग जीव श्रुतधर गाते ॥२०९॥

बारह कल्पोपग होते हैं, सौधर्म और ईशान तथा।
सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म, लान्तक छट्ठे की शुक्ल कथा ॥२१०॥

महाशुक्र और सहस्रार, आनत प्राणत सुरलोक तथा।
आरण और अच्युत लोक कल्प-वासी सुर बारह भेद यथा ॥२११॥

कल्पातीत देव जो होते, वे युगल भेद कहलाते हैं।
ग्रैवेय अनुत्तर अल्पविकृति, ग्रैवेयक नौ त्रिध होते हैं ॥२१२॥

हेट्ठिम-हेट्ठिमहेट्ठिम मध्यम, अधस्तनोपरितन होते।
चतुर्थ मध्यम का हेट्ठिम, मध्यम-मध्यम फिर कहलाते ॥२१३॥

मध्यम-उपरिम है षष्ठ भेद, सप्तम उपरिम-हेट्ठिम जानो।
अष्टम उपरिम का मध्य भेद, उपरिम-उपरिम नवमा मानो ॥२१४॥

ये ग्रैवेयक सुर नव विध होते, ग्रीवास्थल पर इस जगती के।
वैजयंत जयंत विजय अपराजित, सुख भोगे निज करणी के ॥२१५॥

सर्वोच्च सुखी सर्वार्थसिद्ध, ये पाँच अनुत्तर सुर होते।
ये सब वैमानिक देव विविध, परमोन्नत पद पर स्थिर रहते ॥२१६॥

लोकैकदेश में वे रहते, स्वर्गीय परम सुख के भागी।
मैं कहूँ चतुर्विधकाल भाग से, उनका वर्णन यश भागी ॥२१७॥

सन्तति की दृष्ट्या ये सुरगण, आद्यन्तरहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त रहित भी होते हैं ॥२१८॥

होती साधिक एक उदधि, उत्कृष्ट आयु भौमेयों की।
दश सहस्र वत्सर की जघन्य, कालावधि उनके जीवन की ॥२१९॥

व्यन्तर देवों की न्यूनस्थिति, दश सहस्र वत्सर होती है।
उत्कृष्ट एक पल्योपम की, कालावधि उनकी होती है ॥२२०॥

उत्कृष्ट पल्य और लाख वर्ष, परमा स्थिति ज्योतिर्धर सुर की।
पल्योपम अष्टांश आयु स्थिति, होती जघन्य उन देवों की ॥२२१॥

सौधर्म देवकी आयु स्थिति, होती जघन्य पल्योपम की।
उत्कृष्ट रूप से बतलाई, कालावधि दो सागर की ॥२२२॥

साधिक सागर दो की आयु, उत्कृष्ट रूप से बतलायी।
ईशानकल्प में न्यून आयु, साधिक पल्योपम समझायी ॥२२३॥

उदधि सात परिमाण आयु, उत्कृष्ट रूप से बतलायी।
सनत्कुमार में दो सागर, न्यूनस्थिति आयु समझायी ॥२२४॥

साधिक सागर सात आयु, उत्कृष्ट काल है बतलाया।
माहेन्द्र कल्प में दो सागर, साधिक जघन्य भी समझाया ॥२२५॥

दश सागर परिमित होती है, उत्कृष्ट ब्रह्मवासी सुर की।
है सागर सात जघन्य आयु, बतलायी श्रुत में पंचम की ॥२२६॥

सागर चौदह की बतलायी, उत्कृष्ट आयु लान्तक सुरकी।
एवं जघन्य दश सागर की, होती है जीवनायु उनकी ॥२२७॥

सतरह सागर की बतलायी, उत्कृष्ट आयु सुर सप्तम की ।
महाशुक्र की न्यून आयु, होती है चौदह सागर की ॥२२८॥

अट्ठारह सागर बतलायी, उत्कृष्ट आयु अष्टम सुर की ।
सहस्रार में न्यून रूप वह, होती सतरह सागर की ॥२२९॥

उन्नीस सागरोपम होती, उत्कृष्ट आयुस्थिति आनतकी ।
अट्ठारह सागर की जानो, अतिन्यून स्थिति सुरजीवनकी ॥२३०॥

उत्कृष्ट बीस सागर जानो, प्राणत सुरभव का आयुमान ।
सागर उन्नीस का होता है, अतिन्यून आयु प्राणत का मान ॥२३१॥

सागर इक्कीस की होती है, उत्कृष्ट आयु आरण सुर की ।
उदधि बीस की न्यून आयु, होती इग्यारह सुरपुर की ॥२३२॥

सागर बाईस की बतलायी, उत्कृष्ट आयु अच्युत सुर की ।
इक्कीस सागरोपम की है, अतिन्यून आयु सुर जीवन की ॥२३३॥

सागर तेईस की बतलायी, उत्कृष्ट प्रथम ग्रैवेयक की ।
सागर बाईस न्यून जानो, उस ग्रैवेयक के जीवन की ॥२३४॥

है कालमान चौबीस उदधि, उत्कृष्ट द्वितीय ग्रैवेयक की ।
होता है न्यून तेईस सागर, उसमें बसने वाले सुर का ॥२३५॥

सागर पच्चीस का कालमान, उत्कृष्ट तृतीय ग्रैवेयक का ।
सागर चौबीस न्यून होता, उसमें बसने वाले सुर का ॥२३६॥

सागर छब्बीस का कालमान, उत्कृष्ट चतुर्थ ग्रैवेयक का ।
सागर पच्चीस न्यून होता, उसमें बसने वाले सुर का ॥२३७॥

सागर सत्ताईस आयुस्थिति, पंचम ग्रैवेयक में होती ।
सागर छब्बीस न्यून जानो, उनकी यह आयु स्थिति होती ॥२३८॥

सागर अट्ठाईस-कालमान, उत्कृष्ट षष्ठ ग्रैवेयक का।
सागर सत्ताईस का जघन्य, उसमें बसने वाले सुर का ॥२३९॥

सागर उनतीस का कालमान, उत्कृष्ट सप्त ग्रैवेयक का।
सागर अट्ठाईस का जघन्य, उसमें बसने वाले सुर का ॥२४०॥

उत्कृष्ट तीस सागर जानो, अष्टम ग्रैवेयक आयुमान।
उनतीस सागरोपम होता, अतिन्यूनआयु लो उनका जान ॥२४१॥

सागर इकतीस का कालमान, उत्कृष्ट नवम ग्रैवेयक का।
होता है न्यून तीस सागर, उसमें बसने वाले सुर का ॥२४२॥

सागर तैतीस का आयुमान, उत्कृष्ट रूप विजयादिक का।
और चारों लोकों में इकतीस, सागर है न्यून कहा सुर का ॥२४३॥

ना न्यूनाधिक का आयुमान, सागर तैंतीस का बतलाया।
महाविमान सर्वार्थसिद्ध का, कालमान प्रभु ने गाया ॥२४४॥

जितनी होती है आयु स्थिति, सुर भव मे सारे देवों की।
वही न्यून उत्कृष्ट कही, कायस्थिति भी उन अमरों की ॥२४५॥

होता जघन्यत. कालान्तर, अन्तर्मुहूर्त उन जीवों का।
उत्कृष्ट अनन्त काल होता, अन्तर सुर भव में आने का ॥२४६॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से हो जाते।
स्वर्गलोक के देवों में यों, भेद सहस्रों बन जाते ॥२४७॥

संसारी और सिद्ध भेद से, ये जीव युगल कहलाते हैं।
होते अजीव के युगल भेद, जो मूर्तामूर्त कहाते हैं ॥२४८॥

यों जीव अजीवों का वर्णन, सुन मन में शुभ श्रद्धान करे।
सब नय-सम्मत-पथ रमण करे, संयम से सुस्थिर चित्त धरे ॥२४९॥

वर्षों तक फिर श्रमण धर्म का, विमल भाव से पालन कर।
शास्त्र कथित क्रमसे आत्मा को, संलेखन से हल्का कर ॥२५०॥

बारह वर्षों की उत्कृष्टा, संलेखा श्रुत में बतलाई।
मध्यम संवत्सर की होती, छः मास जघन्या कहलाई ॥२५१॥

वर्ष चतुष्टय पहले में, विकृतिओं का वर्जन करले।
फिर द्वितीय वर्ष चतुष्टय में, नानाविध तप साधन करले ॥२५२॥

फिर दो वर्षों तक एकान्तर, पारण के दिन आचाम्ल करे।
वर्ष एकादश से छः महिने, अति विकृष्ट तप नहीं करे ॥२५३॥

पिछले छः महिनों में साधक, फिर विकृष्ट तप ग्रहण करे।
परिमित आचाम्ल करे धारण, यों संवत्सर भर कार्य करे ॥२५४॥

बारहवें वर्ष के आने पर, मुनिकोटि सहित आचाम्ल करे।
फिर पक्ष मास जो भी चाहे, अनशन व्रत को स्वीकार करे ॥२५५॥

कान्दर्पी एव अभियोगी, किल्विषी मोह या भाव असुर।
विराधना के कारण से, दुर्गति होती है मरने पर ॥२५६॥

मिथ्यादर्शन में लीन और, सनिदान हिंस्र-जन जो मरते।
होती है दुर्लभबोधि उन्हें, जो जन इन भावों में रहते ॥२५७॥

सम्यक्त्वलीन अनिदान और, उज्ज्वल लेश्या के सहचारी।
मरते जो ऐसे भावों में, वे सुलभबोधि के अधिकारी ॥२५८॥

मिथ्यादर्शन में लीन जीव, सनिदान कृष्ण लेश्याधारी।
ऐसे भावों में जो मरते, हैं दुर्लभ-बोधि उन्हें सारी ॥२५९॥

जिनवाणी में अनुरक्त तथा, जो जिन वचनों पर चलते हैं।
निर्मल क्लेश रहित हो वे, सीमित भवसागर रहते हैं ॥२६०॥

बालमरण कई बार किये, अज्ञानमरण भी कई पाये।
जो जिन-वचनों के अज्ञानी, मर मर भव वन गोता खाये ॥२६१॥

विविध शास्त्र के जो ज्ञाता, गुणग्राही जो असमाधि हरे।
उपरोक्त गुणों से युक्त योग्य, आलोचन सुन मन ग्रहण करे ॥२६२॥

कन्दर्प कुचेष्टा और शील, सद्भाव हास्य उपहास कथा।
पर जनमन को विस्मित करता, कन्दर्प भावरत रहे वृथा ॥२६३॥

मंत्र योग करके जग में, जो भूमि कर्म उपयोग करे।
सातारसर्द्धि के हेतु करे, अभियोग भाव को प्राप्त करे ॥२६४॥

ज्ञान केवली धर्मगुरु, और सघ चतुर्विध दोष कहे।
मायी अवर्णवादी एवं, किल्विषी देव अपमान सहे ॥२६५॥

जो क्रोध भाव की वृद्धि करे, और व्यर्थ निमित्तक वचन करे।
महिमावर्द्धक इन कामों से, आसुरी भाव को प्राप्त करे ॥२६६॥

शस्त्र ग्रहण या विष भक्षण, पावक जल से तन नाश करे।
जो अनाचार सेवन करता, वह जन्म मरण की वृद्धि करे ॥२६७॥

ज्ञातपुत्र निर्वृत ज्ञानी, प्रभु ने यों तत्त्व विचार किया।
षट्त्रिंश श्रेष्ठ अध्ययनों का, भवसिद्धिक सम्मत ज्ञान दिया ॥२६८॥

शुद्धि-पत्र

अध्ययन	पृष्ठ	पद	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	३	१	जा	ना
१	३	५	१	सूअर	सूअर
१	४	१६	१	ना	न
१	५	२३	१	सुविनीति	सुविनीत
२	८	४	१	तृष्णा	तृषा
२	११	३८	२	सोते	सोने
२	११	३६	२	मनि	मुनि
७	२४	१३	२	दुमेधा	दुर्मेधा
८	२६	६	२	ब्रती	व्रती
८	२७	१०	२	काम	काय
८	२७	११	१	साध	साधु
६	३२	४८	२	नल	नम
६	३२	५१	२	तुम	सम
१०	२६	२३	२	तोर	तेरा
१०	३६	२६	२	रहै	रहे
१०	३७	२८	२	निलिप्त	निर्लिप्त
१०	३७	३६	२	सबर्धन	संवर्धन
१२	४२	५	१	मन्त	मत्त
१२	४३	१२	१	बीते	बोते
१२	४४	२०	२	छात्रो	छात्रों
१२	४५	३१	२	हाती	होती
१२	४५	३६	१	घन	धन
१३	४८	१०	२	शभ	शुभ

अध्ययन	पृष्ठ	पद	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	४८	११	१	शेम	शुभ
१४	५२	१२	१	० त्राण	न त्राण
१४	५२	१४	१	अर्निवृत्त	अनिवृत्त
१४	५३	२६	२	ठंडा	ठूंठा
१४	५४	३०	२	व्यक्त	त्यक्त
१५	५७	४	२	दृष्ट	हृष्ट
१६	६१	५	४	तारी	नारी
१६	६३	९	३	भोलन	भोजन
१६	६४	११	४	धर्म	धर्म को
१६	६५	३	२	सुनि	मुनि
१७	६८	१२	२	युक्त	युत्
१८	७०	१६	२	दृष्ट	हृष्ट
१८	७२	३५	१	कारत	भारत
१८	७२	४३	१	सहस्रा	सहस्र
१८	७३	४४	२	जन	मन
१८	७३	४६	१	करकण्डक	करकण्डु
१८	७४	५३	२	भार	पार
१९	७५	७	१	बालश्री	बलश्री
१९	७६	१०	१	है	०
१९	७७	२४	२	करते	करने
१९	७९	४१	१	गिरवर	गिरिवर
१९	७९	४९	१	कदन्न	क्रन्दन
१९	८०	५५	२	मे	मैं
१९	८०	५८	१	मे	मैं
१९	८१	६२	२	मैं	था
१९	८१	६५	१	अनन्तीवार	अनन्तोदार
१९	८१	६६	१	वार्द्धिक	वार्द्धक
१९	८२	७६	२	तन में	तन को
१९	८२	८१	१	मानता है	मनाता है
२०	८६	१५	१	हो	हो

अध्ययन	पृष्ठ	पद	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	६०	६०	१	विस्त	विरत
२१	६१	५	१	चस्पा	चम्पा
२१	६२	१६	१	कहाँ	जहाँ
२२	६५	६	२	आमरण	आभरण
२२	६५	१०	१	ज्येष्ट	ज्येष्ठ
२२	६५	११	२	दर्शाह	दशार्ह
२०	६५	१५	१	नेम	नेमी
२२	६७	३०	२	अतिवीर	अतिधीर
२२	६७	३८	२	माग	मार्ग
२२	६८	४३	२	गन्धक	गन्धन
२३	१०१	२२	१	हो	०
२४	१०६	११	२	विविध	त्रिविध
२५	१११	३	३	गसे	वसे
२६	१२०	५२	१	समाचारी	सामाचारी
३१	१४७	११	१	प्रतिमाओं	प्रतिमा
३२	१५०	१५	३	आर्य	आर्त
३२	१५५	७१	१	अब	कब
३५	१७१	११	१	कज	तज
३६	१७६	७६	१	सौगान्धिक	सौगन्धिक
३६	१८३	१२३	१	होता है	होती है
३६	१८३	१२४	१	घटिकार्थ	घटिकार्ध
३६	१६३	२३५	१	की	का
३६	१६३	२३६	२	उसने	उसमें
३६	१६६	२६४	१	भूमि	भूति